"भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में सामाजिक चेतना"

(एम० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध)

सरला गुप्ता

शोध निर्देशिका

डॉ० सावित्री चन्द्र "शोभा"

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा संस्थान

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

1987

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
भाषा संस्थान
भारतीय भाषा केन्द्र

नया महरौली मार्ग
नई दिल्ली – 67

दिनांक – 5-1-88

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि सुश्री सरला गुप्ता द्वारा प्रस्तुत "भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में सामाजिक चेतना" नामक शीर्षक लघु शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य किसी विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है ।

यह लघु शोध प्रबन्ध सुश्री सरला गुप्ता की मौलिक कृति है ।

अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ० सावित्री चन्द्र "शोभा"
शोध निर्देशिका
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

विषय सूची

		पृष्ठ संख्या
भूमिका	.....	क .... च
अध्याय - एक	.....	1—30
(अ) चेतना का आशय		
(क) सामाजिक चेतना से तात्पर्य		
(ख) रचनाकार की चेतना		
(ब) चेतना को प्रभावित करने वाले कारक		
(क) आर्थिक परिस्थितियाँ		
(ख) राजनैतिक परिस्थितियाँ		
(ग) सामाजिक व्यवस्था		
(घ) धार्मिक मतवाद		
(च) सांस्कृतिक मान्यताएँ		
अध्याय - दो	.....	31 - 45
(अ) साहित्य और चेतना का सम्बन्ध		
(ब) साहित्य में सामाजिक चेतना		
- आर्थिक चेतना		
- राजनैतिक चेतना		
- सांस्कृतिक चेतना		
अध्याय - तीन	.....	46 - 77
प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यासों का स्थान		

पृष्ठ संख्या

अध्याय - चार ..... 78 - 102

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों का आलोचनात्मक परिचय

(गंगा मैया, सती मैया का चौरा व आग और आँसू)

अध्याय - पाँच ..... 103 - 126

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में सामाजिक चेतना

(अ) वर्ण एवं जाति भेद - पारिवारिक सम्बन्ध
(ब) वर्गीय चेतना - उच्च, मध्यम एवं निम्न वर्ग
(स) नारी चेतना - वर्गीय स्वरूप

अध्याय - छः ..... 127 - 145

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में आर्थिक चेतना

(अ) शहर के व्यापार, व्यवसाय
(ब) जमींदार-कृषक सम्बन्ध
(स) शोषण का चित्रण

अध्याय - सात ..... 146 - 160

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में राजनैतिक चेतना

- राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन

अध्याय - आठ ..... 161 - 179

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना और मानववाद

(अ) धार्मिक विश्वास, अन्ध विश्वास

(ब) सांस्कृतिक लोकवादी रूप और मानववाद

उपसंहार ..... 180 - 183

संदर्भ ग्रंथ सूची ..... 184 - 188

- आधार ग्रन्थों की सूची
- सहायक ग्रन्थों की सूची
- पत्र-पत्रिकाएँ
- शब्द कोश

*****

भूमिका

प्रेमचन्द की परम्परा की श्रीवृद्धि करने वाले भैरव प्रसाद गुप्त हिन्दी साहित्य में पिछले चार दशकों से बेहद संजीदा और मार्मिक लेखनी से अपना योगदान दे रहे हैं । अपने जीवन की वृद्धावस्था में भी भैरव जी कहीं रुके, ठहरे या असन्तोष जनित व्यथा के शिकार हुए हों, ऐसा नहीं है । वे ऐसी आस्था एवं चेतना को निरन्तर प्रवाहमान करने के उधोग में जुटे हैं जो इस वर्ग विभाजित समाज के असन्तोष, कुंठाए, अपराध, अनैतिकता एवं असमंजस की मूल जननी वर्तमान व्यवस्था के विरोध में जन-जन को समूचे उसके संघर्षशील अस्तित्व के साथ लगा देने की सम्भावना रखती है । जन चेतना का वह उबाल समाजव्यापी तमाम विकृतियों को अपने आलोड़न-विलोड़न में तीव्र गति से बहा ले जाए और उसका स्थान ग्रहण करे ऐसी शान्ति एवं नीरवता जहाँ मनुष्य-मनुष्य का भक्षक न बनकर सहयोगी बने, प्रेमी बने, यही भैरव जी की मंशा है, मन की साध है ।

आज व्यवस्था अपने बचाव हेतु अपने विरोधी साहित्य लेखकों को छद्मवश प्रलोभन में खरीदने या उनकी रचनाधर्मिता की निष्ठा में संशोधन लाने हेतु एक साजिश के तहत विभिन्न ऐसे विकल्पों की व्यवस्था कर रही है, जहाँ रचनाकार असमंजस में पड़कर अपनी निष्ठा, आस्था एवं विश्वास में अनजाने ही संशोधन कर अचेतन रूप से ही अपने में एक वैचारिक मोड़ का आभास पाने लगता है । भैरव जी का संयमी, सन्तुलित निष्ठावान, दूरदर्शी एवं आत्म-

संघर्षी व्यक्तित्व दिन-प्रतिदिन अपनी आस्था में निरन्तर गुणात्मक वृद्धि पाता है, गहराई महसूस करता है । इनका रचनाकार विशाल कथा साहित्य की सर्जना से अपने लेखन की इतिश्री नहीं मान बैठा अपितु साहित्य की लगभग सभी विधाओं से अपनी मर्मस्पर्शी लेखनी का सरोकार रखता है । एक सम्पादक की हैसियत से जिसने अनेकानेक उभरते हस्ताक्षरों को हिन्दी जगत के सम्मानित रचनाकार बनाया वे ही भैरवप्रसाद अपने साहित्य का कितना सही मूल्यांकन करवा पाये हैं, हिन्दी साहित्य का सजग पाठक बखूबी जानता है ।

चार दशकों से अनवरत लेखनरत भैरव जी के अब तक "शोले," "मशाल," "गंगा मैया," "जंजीरें और नया आदमी," "सती मैया का चौरा," "धरती," "आशा," "कालिन्दी," "रम्भा," "नौजवान," "एक जीनियस की प्रेम कथा" तथा "बाप और बेटा", उपन्यास आ चुके हैं। न केवल उपन्यासकार अपितु कहानीकार के रूप में भैरव जी अधिक चर्चित रहे । "सपने का अंत," "मंगली की टिकुली," "इन्सान," "महफिल," "आँखों का सवाल" इत्यादि कहानी संग्रहों के माध्यम से हिन्दी साहित्य को अभूतपूर्व सम्पदा प्रदान की । प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध में शोध प्रबन्ध की लघुता की सीमा को स्वीकारते हुए मैंने भैरवप्रसाद गुप्त के तीन प्रतिनिधि उपन्यासों को अपना विवेच्य विषय बनाया है । "गंगा मैया," "सती मैया का चौरा" व "आग और आँसू" भैरव जी के अन्य सभी उपन्यासों के मंतव्य का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है ।

विवेच्य तीनों उपन्यासों के माध्यम से आजादी के पूर्व एवं आजादी के पश्चात के भारतीय ग्राम्य, कस्बाई एवं शहरी जीवन मूल्यों में आए परिवर्तन एवं पुरातन मूल्यों की चरमराहट को एक जोरदार प्रहार से गिरते हुए दिखाया है । "गंगा मैया" उपन्यास में भारतीय ग्राम्य समाज में कराह रही जर्जर मान्यताओं पर विधवा-पुनर्विवाह के क्रान्तिकारी ढंग से सम्पन्न की गई

औपचारिकता के माध्यम से बीमार साँसों की दुर्गन्ध को जो वातावरण में किटाणु फैलाने का ही कार्य करती है, उसे जहर देकर बेअसर करके अपनी सामाजिक चेतना का परिचय दिया है । "सती मैया का चौरा" उपन्यास के माध्यम से जातिवाद एवं साम्प्रदायिक जेहाद से तथाकथित जनतंत्र की घुटती सांसों को मौत की नींद सुलाने वाले भ्रष्ट राजनीतिज्ञों के असली चरित्र से यवनिका उठाने का जोरदार प्रयास किया गया है । "आग और आँसू" उपन्यास में सामन्ती जीवन में नारी शोषण के विविध परिप्रेक्ष्यों का उद्घाटन करके सामन्ती चकाचौंध की आड़ में छिपी विभीषिका को नंगा किया है ।

भैरव प्रसाद जी ने जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी व अज्ञेय की भाँति एक व्यक्ति विशेष या मध्य एवं उच्चवर्ग की मानसिक गुत्थियों को सुलझाना अपने साहित्य का लक्ष्य नहीं बनाया । उनका यथार्थ कल्पना की सिकुड़न में सिमटता हुआ नहीं है, अपितु जीवन के संताप सहकर व्यापक परिवेश में भोगा हुआ कड़वा सत्य है । वह श्रम से बहे स्वेद से गंधित है, जिसमें कहीं आँधी-तूफानों से झोपड़ियों के उजड़ने की दर्द भरी कथाएँ हैं तो कहीं दवादारु के अभाव में मौत की गहरी नींद में सो रहे शिशुओं की मर्मान्तक गाथाएँ हैं । भैरव जी के पात्र अन्तश्चेतना का संघर्ष नहीं झेलते वरन उनके संघर्षों का स्वरूप बहुत ही स्पष्ट और प्रत्यक्ष है । "यशपाल" यथार्थ को छूकर भी अपनी लेखनी को एक हद तक मध्यवर्ग तक मोड़ लेते हैं, तो फणीश्वरनाथ "रेणु" ग्राम्य जीवन की विडम्बनाओं को उसकी सम्पूर्ण सच्चाईयों से चित्रित करते हुए भी लोक संस्कृति की तरफ अधिक उन्मुख हो जाते हैं । जहाँ मोहन राकेश व कमलेश्वर अपने कथासाहित्य में महानगरीय जीवन में पारस्परिक संवादहीनता व अकेलेपन की यंत्रणा से कुंठ रहे व्यक्ति की मानसिकता को ही मुखरित करते हैं और भगवतीचरण वर्मा व रमेश बक्षी भी मध्यवर्गीय जीवन संघर्ष को ही अधिक सूक्ष्मता से महसूस करने में अपनी संवेदनशीलता व्यक्त कर पाए हैं, वहीं भैरव प्रसाद गुप्त ने अमृतराय व

नागार्जुन की भाँति अपने साहित्य को सर्वहारा बोध से सम्पन्न करके श्रमशील वर्ग के प्रति अपनी पक्षधरता स्पष्ट करते हुए प्रकारांतर से व्यक्तिवादी कथाकारों की रचनाधर्मिता के विरुद्ध ऐसी आवाज बुलन्द की है जो समाज के एक बड़े हिस्से में विश्वस्त है क्योंकि वह समुदाय उसका प्रत्यक्ष भोक्ता है ।

भैरव जी के तीनों उपन्यासों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द द्वारा प्रवाहित परम्परा में अजस्र बहती हुई अनेकानेक लहरों की भाँति अपनी सर्जना से निरन्तर प्रवाह में गति देते रहे हैं । कथ्य संक्षेप में स्वतन्त्रता पूर्व भारत में जमींदारी, अत्याचार, किसान-जमींदार, संघर्ष, नारी शोषण एवं स्वातन्त्र्योत्तर भारत में कागजी आजादी के पश्चात सरकारी संस्थानों में व्याप्त भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, बढ़ते हुए पूँजीवाद जनित संकट तथा पिसता हुआ आम आदमी, जातिवाद एवं साम्प्रदायिकता की शराब का नशा देकर सामान्य जनता को गुमनामी की अँधेरी गलियों में भटके हुए पथ पर मरने, कटने के लिए छोड़ कर अपने राजनैतिक उल्लू सीधे करते राजनीतिज्ञों के भ्रष्ट चरित्र जैसी अनेकानेक आपाधापियों का चित्रण करते हुए भैरव जी ने अपने संवेदनशील मन के अक्षय कोष को साहित्य सर्जना के व्यापक मुद्दे बनाये हैं । दुःखी, संतप्त जूझता, पिसता, कराहता हुआ आदमी अपनी स्पष्ट एवं सच्ची तस्वीर इनकी कृतियों में देख सकता है ।

भैरव जी का साहित्य अपनी अभिव्यक्ति में भले ही अधिक प्रगल्भता को ग्रहण नहीं कर पाया हो, चमत्कारिक आयामों को छूने में चाहे असफल रहा हो ; परन्तु भारतीय ग्राम्य एवं कस्बाई जीवन की सच्चाई को इनकी कृतियों की सम्पूर्णता से ओतप्रोत पा सकते हैं । अकाल, बाढ़, सूखा, साम्प्रदायिक दंगों, शोषक-शोषित सम्बन्धों एवं पारिवारिक कलहों में जूझ रहे जनमानस की समस्याओं को अपनी लेखनी तक लाकर भारतीय जीवन की ग्रामगंधी धरती से जुड़ने का रचनाकार का सच्चा प्रयास है । जीवन में अनेकानेक झंझावात एवं व्यक्तिगत तुषारापातों से जो रचनाकार टूटा नहीं और टूटा

तो, अगले ही क्षण पहले से अधिक सशक्त जुड़ाव लिए निखरे हुए तेजस्वी व्यक्तित्व के साथ उभरती है । इनकी रचनाएँ अधिक पीड़ा सहनकर सत्यों को अधिक गहराई और सूक्ष्मता से महसूस करने में एक सीमा तक सफल हुई हैं । जातिवाद, क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता एवं नारी शोषण के विविध प्रश्न केवल रचनाकार के प्रश्न बनकर ही नहीं रह गये अपितु वे सवाल पूरी भारतीय जनता के ज्वलन्त सवाल हैं जो आजादी से पूर्व भी प्रश्निल की संवैधानिक आजादी के पश्चात भी अनुत्तरित है ।

भैरव प्रसाद अपनी पीढ़ी के रचनाकारों में ही श्रेष्ठ नहीं है अपितु हिन्दी साहित्य में इनकी कृतियों के स्थान निर्धारण करने में न्याय की आवश्यकता है । जहाँ कुछ रचनाकारों नें जीवन व्यापी यथार्थ को विस्मृत करके कुछ आभिजात्य लोगों की हवाई समस्याओं को अपनी लेखनी का सर्वे-सर्वा बनाया उन्हीं के मध्य भारत की 80-85 प्रतिशत जनता के भोगे जा रहे क्षुधा, प्यास, मौत के क्रन्दन एवं भ्रष्टाचार से आम आदमी की शनैः - शनैः बन रही जिन्दा लाश को जितनी खुली आँखों से भैरव जी देख पाए हैं उतना शायद ही कोई अन्य रचनाकार ग्रहण कर सका होगा । यह बात कहने का आधार भैरव जी का व्यक्तित्व न होकर उनकी औपन्यासिक सर्जना है जो मात्र कागजी सर्जना न होकर हिन्दुस्तानी जनता की रोटी-पानी के संकटों के मध्य जूझती हुई संघर्षशील गुहार है । समाजवादी प्रभाव से पूर्व साहित्य भावनालोक, कल्पनालोक एवं आदर्शों के जगत में इतस्ततः घूम फिर कर अपने में ही सीमित होता जा रहा था वहीं समाजवादी रचनाकारों ने इस मायावी संसार से अलग वास्तविक यथार्थलोक से अपना नाता जोड़ा । समाजवादी कथाकारों में भैरवप्रसाद गुप्त एक ऐसे रचनाकर्मी के रूप में उभरे हैं, जो यथार्थ के नाम पर सतह पर तैर रही समस्याओं को ही व्यापक मानवता का जीवन सत्य न मानकर संघर्षशील शक्तियों की जुझारू एवं गत्यात्मक क्षमता युक्त चेतना को सत्य मानते हुए सामन्तवाद साम्राज्यवाद एवं महाजनवाद के

दुहरे-तिहरे पैंतरों से दलित सामाजिक जीवन में चेतना के विभिन्न आयामों का प्रस्फुटन करके अपने चिन्तन के यथार्थ को स्पष्ट किया है । इनके उपन्यास अपनी सीधी सरल एवं लक्षणा-व्यंजनाहीन भाषा शैली तथा तीखी एवं धार-दार वर्णन शैली के अभाव के कारण भले ही पाठक जगत को चकाचौंधित न कर पाए हों ; परन्तु इनकी सी रचनात्मक ईमानदारी और श्रमिक वर्ग का पीड़ा बोध अन्य कहीं दृष्टव्य होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है ।

प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध के माध्यम से शोध जगत में मैंने कोई अहम भूमिका निभाई है, ऐसा कतई मेरा विश्वास नहीं है । यह मेरा मात्र व्यक्तिगत सन्तोष है । शोध प्रबन्ध में कितनी सटीक मूल्यांकन क्षमता है, शोध प्रणाली की त्रुटियों व असंगतियों से कितना उबर पाया है, या कितना उस परम्परा मात्र को ही ढो पाया है, इसका निर्णय तो मेरे आदरणीय गुरूजन एवं सुधिजन पाठक ही करेंगे ।

शोध प्रबन्ध हेतु विवेच्य विषय का सुझाव देकर मेरी शोध निर्देशिका डा० सावित्री चन्द्र "शोभा" नें सम्यक निर्देशन एवं शोध त्रुटियों को अपने सहयोगी एवं मृदुल व्यवहार से स्पष्ट करते हुए अनेकानेक अमूल्य सुझाव देकर मुझे कृतज्ञ किया । मैं हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो० नामवर सिंह की आभारी हूँ जिन्होंने इस विषय पर अनुमति प्रदान की । इनके अतिरिक्त मैं अपने अन्य सभी गुरूजनों के प्रति आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने जाने-अनजाने सहयोग देकर मुझे कृतार्थ किया ।

अन्त में मैं अपने सभी मित्रों एवं सहयोगियों को धन्यवाद देती हूँ जिनके यथासम्भव सहयोग एवं स्नेह ने कार्यभार को आसान करने में काफी मदद की । विनोद "सरल" का आत्म विश्वास एवं प्रोत्साहन निरन्तर मेरे प्रेरक बिन्दू रहे ।

*****

अध्याय - एक

(अ) चेतना का आशय

(क) सामाजिक चेतना से तात्पर्य

(ख) रचनाकार की चेतना

(ब) चेतना को प्रभावित करने वाले कारक

(क) आर्थिक परिस्थितियाँ

(ख) राजनैतिक परिस्थितियाँ

(ग) सामाजिक व्यवस्था

(घ) धार्मिक मतवाद

(च) सांस्कृतिक मान्यताएँ

अध्याय - एक

(अ) चेतना का आशय

मनुष्य के अन्तर्मन में प्रतिपल अनेकानेक विचार, भावनाएं, योजनाएं बनती बिगड़ती रहती हैं, जिसके लिए उसकी अभिव्यक्ति संवेदनात्मक धरातल से लेकर वैचारिक पृष्ठभूमि व विविध आयामों को स्पष्ट करती है। मनुष्य एक विकासशील इकाई होने के कारण अपने अन्तस: में वर्तमान, भूत और भविष्य के प्रति "चेतना" का निर्वाह करते हुए संवेदनात्मक व वैचारिक दोनों ही स्तरों पर किसी भी पहलू के दोनों पक्षों जैसे अच्छा-बुरा, नैतिक-अनैतिक प्रभाव-कुप्रभाव को पहचानकर अपनी निर्णयात्मक क्षमता से एकतरफा निश्चय करता है। व्यक्ति अपने सामाजिक परिवेश में जैसा भी वातावरण चुनता है, पसन्द करता है, अपनी रूचियों का विकास करता है, उसका नैतिक, भावात्मक, संवेगात्मक वैचारिक मूल्यांकन उसकी "चेतना" को द्योतित करता है। स्पष्ट है कि चेतना के विकास में सामाजिक वातावरण व तमाम सम्पर्कगत प्रभावों की अहम् भूमिका होती है अत: रचनाकार की चेतना का उद्भव और विकास भी अपने परिवेश व सम्पर्कों के प्रति वैचारिक दृष्टिकोण व संवेदनात्मक पहलू के मिले-जुले सहयोग से होता है। रचनाकार अपनी रचना में वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों की सापेक्षता में चेतना का उद्भावन करता है, विकास करता है, उसे अंगीकार करता है। रचनाकार की यही बहु-

आयामी चेतना एक सामान्य व्यक्ति और रचनाकार में भेद स्पष्ट करती है, स्पष्टीकरण के लिए "बटरोही" की चार पंक्तियाँ बहुत सार्थक वक्तव्य देती हैं : -

"मनुष्य ऐसा भी था, मनुष्य ने ऐसा भी किया, मनुष्य के लिए ऐसा भी सम्भव है - मानवीय चेतना के इसी विराट नैरन्तर्य का बोध कराने वाली रचना ही साहित्य हो सकती है ।"[1]

एक संवेदनशील व्यक्ति अपने आस-पास घटित हो रही घटनाओं के प्रति बहुत ही सूक्ष्म व पैनी दृष्टि से उसका विश्लेषण करता है । जबकि एक सामान्य व्यक्ति के लिए यह घटना अतिसामान्य हो सकती है । उसका मन कहीं भी उस घटना या दुर्घटना से आलोड़ित-विलोड़ित नहीं हो पाता जबकि रचनाकार उस घटना पर घंटों सोचने, महसूसने पर विवश होता है । वे घटनाएं,वे सम्पर्क, वे वस्तुएं जो रचनाकार को भीतर तक हिला देती हैं वे ही तथ्य गहराई तक जाकर रचनाकार की चेतना का अभिन्न अंग बन जाते हैं । फिर रचनाकार अपनी चेतना से उस घटना, उन सम्पर्कों, उन परिवेशगत प्रभावों के बारे में अपनी बहुआयामी दृष्टि को चेतना से अधिक गहरा कर उस संवेदना को अभिव्यक्त करता है । इसी आधार पर उसका राजनैतिक विचार-विश्लेषण, राजनैतिक चेतना, धार्मिक विचार-विश्लेषण, धार्मिक चेतना तथा सामाजिक विचार-विश्लेषण, सामाजिक चेतना कहलाती है । अंग्रेजी शब्दकोश के अनुसार "चेतना मस्तिष्क में जो कुछ यहाँ और वहाँ उपस्थित है, उसका ज्ञान है । अत: वह केवल अन्त: प्रेरणीय है और उसके ज्ञानाधीन वस्तुएं पूर्णत: अनुभूतिपरक हुआ करती है ।"[2]

---

1. बटरोही - कहानी : रचना प्रक्रिया और स्वरूप, पृ.- 9.
2. द ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी, वाल्यूम-2, पृ.-847.

स्पष्ट है कि अंग्रेजी शब्दकोश में चेतना को वातावरण के तमाम प्रभावों, सम्पर्कों, सम्बन्धों के प्रति व्यक्ति की वैचारिक व अनुभूतिपरक दृष्टि का मिश्रित विश्लेषण माना गया है । यह सच भी है कि व्यक्ति अपनी "चेतना" बोध से ही अपने आस-पास अपने परिवेश, अपने सम्बन्धों, व्यवहारों को समझ-बूझ सकता है । रचनाकार अपने परिवेश से कटकर नहीं रह सकता क्योंकि समाज जिसमें वह रहता है वही उसकी रचना सामग्री का स्रोत होता है । परिवेशजन्य घटनाओं से रचना सामग्री बटोर कर वह अपनी "चेतना" शक्ति और रचना प्रसव की पीड़ा से गुजरता हुआ रचना को विविध आयामों से परिपूरित करता हुआ समकालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों व उनके संघात से व्युत्पन्न नवीन परिस्थितियों का जायजा लेते हुए अपनी "चेतना" का विश्लेषण करता है । "हिंदी साहित्य कोश" में चेतना का स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया गया है - "चेतना शब्द का प्रयोग मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक अर्थों में ही किया जाता है। चेतन मानस की प्रमुख विशेषता "चेतना" है जिसे वस्तुओं, विषयों, व्यवहारों का ज्ञान भी कहा जा सकता है ।"[1]

हिन्दी साहित्य कोश में भी परिवेशगत समस्त प्रभावों आचरणों, व्यवहारों, सम्बन्धों एवं सम्पर्कों के प्रति व्यक्ति के चिन्तनशील दृष्टिकोण को ही "चेतना" माना गया है । "चेतना" शब्द को हैमल्टिन अपरिभाषेय सिद्ध करते हुए लिखते हैं - "चेतना की परिभाषा नहीं की जा सकती । हम केवल अनुभव कर सकते हैं कि चेतना क्या है, लेकिन हम चेतना को जो समझते हैं, जैसा अनुभव करते हैं, बिना किसी उलझन के दूसरों को बता नहीं सकते ।"[2]

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, पृ॰- 319-320.
2. द डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी, डी॰डी॰ रयुन्स, पृ॰-64.

इसी प्रकार क्लार्क चेतना को अपरिभाषेय तो नहीं मानते परन्तु "अपने तक केन्द्रित" विचार व क्रियाओं की सूचक मानकर बहुत स्पष्ट नहीं कर पाते।

"रीड" चेतना को दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त शब्द मानते हैं जो व्यक्ति के वर्तमान विचारों, उद्देश्यों और सामान्यतया मन की समस्त वर्तमान क्रियाओं से सम्बद्ध तात्कालिक ज्ञान की सूचक है।"[1] वे कुछ व्यापक अर्थ देने का सार्थक प्रयत्न करते हैं। डॉ० नगेन्द्र चेतना के सम्यक बोध के लिए अन्तर्निरीक्षण की गहन क्षमता की आवश्यकता महसूस करते हुए लिखते हैं -

"वह सत्ता या शक्ति जो ज्ञान का मूल आधार है और इसलिए जो स्वयं अपरिभाष्य है। अन्तर्निरीक्षण द्वारा ही चेतना का ज्ञान सम्भव है बाह्य निरीक्षण चेतना की क्रियाओं का परिचय मात्र दिला सकता है और वह भी परोक्ष रूप से।"[2]

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों के मतों से इतना तो स्पष्ट है कि मनुष्य जिस समाज में अस्तित्व ग्रहण करता है उस समाज के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक सरोकारों के प्रति अपना एक दृष्टिकोण रखता है, परन्तु यह सर्वमान्य नहीं है कि सभी व्यक्ति एक निश्चित दृष्टि-कोण रखते ही हों। बहुत से व्यक्ति बिना किसी दृष्टिकोण के भ्रमित जीवन भी जीते हैं। रचनाकार एक संवेदनशील व प्रबुद्ध व्यक्ति होने के कारण बिना सोचे समझे, धारणा बनाये, विचार किए नहीं रह सकता। वह अपने परिवेश की घटनाओं, आस-पास बिखरी मान्यताओं, मूल्यों व सम्बन्धों के प्रति अपने मन मस्तिष्क में उद्वेलन पैदा करता है, द्वन्द्व की प्रक्रिया से गुजरता है तथा फिर अन्ततः किसी निर्णय पर पहुँचता है। यह "चेतना" ही है जो

---

1. डॉ० पुरुषोत्तम दूबे - व्यक्ति चेतना और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास,
2. सं०- डॉ० नगेन्द्र - मानविकी पारिभाषिक कोश - दर्शन खण्ड,

व्यक्ति को सोचने समझने और निर्णय तक पहुँचने पर विवश करती है । चेतना द्वारा ही मस्तिष्क गति पाता है । चेतना ही व्यक्ति को उसकी स्थिति, क्षमता, योग्यता व परिवेशगत सम्बन्धों, स्थितियों, सरोकारों के प्रति चेतन्य रखकर अभिव्यक्त करने की क्षमता प्रदान करती है ।

(क) सामाजिक चेतना से तात्पर्य

साहित्य में सामाजिक चेतना की पड़ताल करना आज साहित्य के आलोचनात्मक विश्लेषण का बुनियादी पक्ष हो गया है यद्यपि साहित्य का सामाजिक चेतना से विरोध नहीं होता और न ही होना चाहिए परन्तु साहित्यिक जगत में खेमों की गुटबन्दियों ने इस प्रश्न को और अधिक उभार दिया है । आज साहित्य जगत में परस्पर दो भिन्न दृष्टिकोण वाले खेमों जिनमें से एक "कला, कला के लिए" का समर्थक है तो दूसरा "कला, जीवन" के लिए" का पक्षधर है, के वैचारिक मतभेदों से यह सवाल इतना अहम् बन गया है कि साहित्यकार की सही-2 परख के लिए कृति में "सामाजिक चेतना" की तहों को परत-दर-परत खोला और उघाड़ा जाता है ।

कलावादियों ने साहित्य को व्यापक सामाजिक मुद्दों से अलगाकर उसे सीमित साहित्यिक उपादानों, मनोरंजन तक सीमित कर पाठकीय चेतना को भरमा देने की हर सम्भव कोशिश की । यद्यपि जन चेतना इस तथ्य को ग्रहण करने में सक्षम होती जा रही है कि साहित्य के प्रति कलावादी दृष्टि-कोण सामाजिक परिवर्तन में अपनी भूमिका निर्वाह करने में न केवल शून्य रहेगा बल्कि अराजक साबित होगा।यह समझते-बूझते हुए भी एक बहुत बड़ा समुदाय इसी दृष्टि से साहित्य सृजन कर रहा है,इस दृष्टि को अंगीकार करके जी रहा है ।

कला को जीवन के लिए मानने वाले रचनाकार साहित्य को

सामाजिक परिवर्तन एवं सुधार हेतु महत्वपूर्ण कारक मानते हुए कलावादियों का साहित्य के प्रति मात्र आनन्दपरक दृष्टिकोण, समाज निरपेक्ष मूल्यांकन की निन्दा करते हुए साहित्य को विविध सामाजिक परिप्रेक्ष्यों, राजनैतिक, आर्थिक एवं नैतिक मानदण्डों से मूल्यांकन करने के पक्षपाती हैं । सामाजिक परिवर्तन से इन रचनाकारों का तात्पर्य असहायों, दलितों, पीड़ितों की बदतर हालात में परिवर्तन से है । कला को जीवन सापेक्ष मानने वाले रचनाकारों की रचनाओं के प्रगतिशील पात्र उस शोषण चक्र की प्रक्रिया को पहचान कर अपने हकों की प्राप्ति हेतु सजग संघर्ष करते हैं । कलावादियों के साहित्यिक दृष्टिकोण से सामाजिक परिवर्तन की कोई गुंजाईश शेष नहीं रहती क्योंकि इनके लिए साहित्य के सामाजिक सरोकार से बड़ा प्रश्न मनोरंजन का है साहित्य को कुछ संकीर्ण कटघरों में फिट करने का है ।

सामान्यत: मनुष्य व पशु की खान-पान, शारीरिक श्रम, काम भावना आदि की प्रवृति व क्षमता में बहुत कुछ वैषम्य होते हुए भी काफी कुछ समानता भी है । मनुष्य को पशु से अलगाने वाला एक बहुत बड़ा कारक है और वह है - उसका मस्तिष्क या बुद्धि । मनुष्य कुछ भी करने से पूर्व उसके कारण-परिणाम, भलाई-बुराई, नैतिक-अनैतिक पक्ष, कार्य से होने वाले दूरगामी सामाजिक अच्छे या बुरे प्रभाव आदि सभी चिन्ताओं को मद्दे नजर रखता है और इसी लिए मनुष्य सभी जीवधारियों से श्रेष्ठ माना जाता रहा है । जो मनुष्य विचारशील नहीं होते, एक अच्छी शक्ति से कार्य सम्पादन करते रहते हैं, कार्य के पूर्वगामी व आगामी परिणाम के बारे में नहीं सोचते, कार्य के कुशल सम्पादन के लिए जिनकी कोई पूर्व निर्धारित योजना नहीं होती उन्हें सामान्य भाषा में पशु कहकर सम्बोधित किया जाता है । मनुष्य में इसी भलाई-बुराई, गत-आगत, कुप्रभाव-सुप्रभाव एवं नैतिक-अनैतिक पक्ष पर विचार करने की क्षमता के अतिरिक्त अपने समाज, संस्कृति एवं इतिहास के प्रति जो स्पष्ट चिन्तन एवं बोध होता है वही उसकी सामाजिक चेतना है । मनुष्य में ज्ञान प्राप्ति की

एक सहज इच्छा होती है जो उसकी प्रत्येक गतिविधि, कार्यविधि एवं प्रत्येक चेष्टा में अभिव्यक्ति पाती है।यही ज्ञानात्मक आचरण या ज्ञानात्मक मनोवृत्ति सामाजिक चेतना कहलाती है ।

समाज की पतनावस्था की दशा में कुछ मनुष्य उस व्यवस्था को मिटाकर नवीन मूल्यों की प्रस्थापना हेतु संघर्ष करते हैं, एक समूह तैयार करते हैं, बलिदान करते हैं तथा अपने व्यक्तिगत लक्ष्यों को सीमित मानकर व्यापक मानवता के हितार्थ अपने जीवन की सार्थकता की सम्भावनाओं पर विचार करते हैं।यह विचार ही सामाजिक चेतना है । मनुष्य अपने शरीर में दिमाग नामक सत्ता का अस्तित्व प्राप्त करता है तब इतना तो स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति में चेतना होती है परन्तु प्रत्येक इन्सान यदि सामाजिक चेतना सम्पन्न होता तो तमाम सामाजिक बुराईयों, रूढ़ियों का पदाफाश होने में इतना संघर्ष, इतनी जटिलताएं, इतनी विद्रूपताएँ समक्ष उपस्थित न होती । निश्चित ही मनुष्य दिमाग पाकर भी कहीं न कहीं सामाजिक चेतना से विपन्न होता है ।

चूँकि व्यक्ति अपने विकास के लिए प्रदत्त परिस्थितियों पर काफी निर्भर करता है । उसे जैसा पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक वातावरण मिलेगा तदनुरूप ही उसका मानसिक विकास हो पाएगा । जो व्यक्ति बहुत ही रूढ़ और सामन्ती परिवार में पल रहा होगा, उसकी चेतना सामन्ती संस्कारों की जड़ता से आक्रान्त होकर कुंठित हो जाती है परन्तु यह बात सर्वमान्य नहीं है । इसके अनुसार जड़ वातावरण से अच्छी प्रतिभाएं निकल ही नहीं सकती जबकि व्यवहार में हम देखते हैं कि अच्छी प्रतिभाएँ अधिकांशत: विपरीत वातावरण में ही विकसित होती हैं जो पुरातन, रूढ़ और जर्जर मूल्योंपर प्रहार करते हुए नवीन मूल्यों की प्रस्थापना कर सामाजिक चेतना का परिचय देते हैं । अत: सड़े-गले ढाँचे के प्रति विरोधी रवैया अपनाते हुए अपने वैचारिक धरातल को नित नवीन विचारों से द्वन्द्वशील

प्रक्रिया के भीतर से प्रविष्ट करवाते हुए उसमें पैनापन, कुशाग्रता, नवीनता व मूल्यवत्ता बनाए रखना ही सामाजिक चेतना कहलाती है । डॉ० रत्नाकर पाण्डेय सामाजिक चेतना के स्वरूप की व्यापकता को अपनाते हुए धर्म व राजनीति को उसमें शामिल करते हुए लिखते हैं - "जब कोई नूतन विचारधारा समाज में प्रविष्ट होती है और निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है तो सामाजिक विचारधारा जाग्रत होती है।इसी जागृति को सामाजिक चेतना कहा जाता है।सामाजिक चेतना के अर्थ राजनीति, धर्म आदि विविध तत्व हैं ।"[1]

सामाजिक चेतना के विभिन्न अंग

किसी भी रचनाकार की सामाजिक चेतना की पड़ताल हेतु रचना में परिवार, कुल तथा जातीय सम्बन्धों के प्रति रचनाकार के विचारों की थाह खोजना अत्यावश्यक है । पारिवारिक रिश्ते-नातों, सदस्यों के परस्पर सम्बन्धों एवं व्यवहारों के प्रति रचनाकार की गहरी सूझ एवं कुल तथा जातिगत सम्बन्धों में रचनाकार का गत्यात्मक दृष्टिकोण प्रकारान्तर से उसकी सामाजिक प्रगतिशीलता की पुष्टि करता है । रचनाकार समाज में विभिन्न वर्गों की स्थिति का सही-सही जायजा लेता हुआ मानव जीवन का अध्ययन वर्गीय दृष्टि से करके ही अपने स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय दे सकता है । समाज में नारी की वर्गीय स्थिति के अन्तर्गत ही मध्यवर्गीय नारी के मानदण्ड एवं जीवन मूल्य तथा निम्न वर्गीय नारी की सामाजिक स्थिति एवं मध्यवर्गीय नैतिकता से भिन्न जीवन मूल्य किसी रचनाकार की समाजगत जानकारी की पुष्टि करते हैं ।

भैरव प्रसाद ने अपनी सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति हेतु पारिवारिक सम्बन्धों का खोखलापन एवं जाति-बिरादरीवादी औपचारिकता

---

1. डॉ० रत्नाकर पाण्डेय - हिन्दी साहित्य : सामाजिक चेतना, पृ०-157.

के भीतर व्यक्ति के हो रहे शोषण का जायजा लेते हुए "गंगा मैया" उपन्यास में मध्यवर्गीय पारिवारिक सम्बन्धों की असंवेदनशील दृष्टि की विधवा भाभी व उसकी निरंकुश सास एवं ठहरे हुए पुरातन मूल्यों से चिपके ससुर के पारस्परिक सम्बन्धों में देख सकते हैं तो दूसरी तरफ बिरादरीवाद के दम्भी सामन्ती आवरण को तिरस्कृत करके स्वस्थ मान्यताओं को जीने हेतु आबद्ध गोपी के माध्यम से रचनाकार अपनी जाति-बिरादरीवादी सामाजिक दृष्टि को अभिव्यक्त करता है। "सती मैया का चौरा" उपन्यास में नारी की स्थिति का वर्गीय दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए मध्यवर्गीय नारी की सामाजिक स्थिति एवं निम्नवर्गीय नारी की सामाजिक विवशताओं एवं बलात लादी गयी स्थितियों का मूल्यांकन करते हुए भैरव जी ग्राम्य जीवन के रूढ़िबद्ध संस्कारों में पल रही नारी की यथार्थ समस्याओं का उद्घाटन करके अपने सामाजिक बोध को स्पष्ट करते हैं तो "आग और आँसू" उपन्यास में सामन्ती जीवन में नारी शोषण के विविध स्वरूपों जैसे नारी का क्रय-विक्रय एवं नारी के प्रति वस्तुवादी तथा भोगवादी दृष्टिकोण की बखिया उधेड़ते हुए नारी को समान अधिकार देने के इच्छुक भैरव प्रसाद गुप्त तीनों उपन्यासों के माध्यम से सामाजिक चेतना का परिचय देते हैं। चूँकि विवेच्य तीनों उपन्यासों के केन्द्र में उपन्यासकार नें नारी जीवन में व्याप्त समस्याओं को प्रमुखता दी है अतः भैरव जी की चिन्ता को अधिक स्पष्ट करने हेतु आगे के अध्यायों में नारी विषयक विचार-विश्लेषण को विस्तार से स्पष्ट किया गया है। सामाजिक चेतना के अंग स्वरूप पारिवारिक सम्बन्धों, जातीय सम्बन्धों एवं मानव का वर्गीय दृष्टि से मूल्यांकन तथा ग्रामीण एवं शहरी जीवन मूल्यों में वैभिन्य को अभिव्यक्त करके रचनाकार नें अपनी साफ सामाजिक दृष्टि को खुली किताब की भाँति स्पष्ट किया है। हमारी सामाजिक स्थिति को आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ एक हद तक प्रभावित करती है। सामाजिक चेतना के मायने जाति, कुल, परिवार, शहर एवं देश के प्रति

अपनी पैनी दृष्टि के साथ ही साथ आर्थिक एवं राजनैतिक हालातों के बारे में सजग दृष्टिकोण भी शामिल है । अत: भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यासों में सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में नारी की वर्गीय स्थिति उसके नैतिक मानदण्डों में आए परिवर्तन, पारिवारिक एवं जातीय सम्बन्धों के साथ शहरी एवं ग्राम्य जीवन मूल्यों में परिवर्तन को व्याख्यायित करते हुए तत्कालीन आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का वहाँ की सामाजिक व्यवस्था पर पड़े प्रभाव को स्पष्ट किया गया है ।

सामाजिक चेतना एक सामाजिक उपक्रम

सामाजिक चेतना व्यक्ति अपने भीतर की अन्तश्चेतना से नहीं खोज निकालता बल्कि बाहरी पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक वातावरण के प्रति उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। यद्यपि चेतना व्यक्ति के भीतर से ही निकल कर अभिव्यक्ति होती है परन्तु अपनी अभिव्यक्ति में इसका स्वरूप सामाजिक है यह एक व्यक्ति की उपज नहीं है बल्कि पूरी सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम है। वह सामाजिक प्रक्रिया, धर्म व राजनीति जिसके अंग हैं, अमृतराय सामाजिक चेतना को ऐसे व्यक्ति की चेतना मानते हैं जो समाज के तमाम संवेदनासूत्रों से अपना सापेक्ष नाता रखता है। "नयी समीक्षा" में अमृतराय लिखते हैं -

"हमारा आज का भावकोष अब तक के हमारे सामाजिक विकास का परिणाम है । हमारे विचार, हमारे संस्कार, हमारी भावनाएं सहसा जमीन फोड़कर नहीं निकल आती । सब की स्थिति समाज में होती है, विश्व की परिस्थितियों में होती है । कांडवेल जब सामूहिक भावों की बात करता है तो उसका अभिप्राय उसी भावकोष से होता है जो प्रत्येक युग का उपनीव्य होता है, किसी युग का समाज जिसके सहारे चलता है ।"[1]

---

1. अमृतराय - नई समीक्षा, पृ.- 17.

सामाजिक चेतना का विकसनशील स्वरूप

सामाजिक चेतना एक स्थाई चेतना न होकर निरन्तर परिवर्तित होते रहने वाला सत्य है।प्रत्येक युग के अपने भिन्न-भिन्न मानदण्ड होने के कारण एक समय की अनैतिकता आगामी समय में नैतिकता की सीमाओं के भीतर ग्रहण कर ली जाती है । प्रेमचन्द के उपन्यासों की "निर्मला" व "सुमन" पतिव्रता होकर भी पुरुष प्रधान समाज में शक की निगाहों से देखी जाती हैं तो यशपाल की नारी पात्र उन्मुक्त सैक्स जीवन जीकर भी अनैतिक नहीं बन पाती । समाज उसका बहिष्कार नहीं करता । एक समय का सत्य प्रत्येक समय का सत्य स्थापित नहीं हो सकता यदि ऐसा होता तो समाज रूढ़, जर्जर हो जाता । प्रत्येक युग के सत्य - असत्य, नैतिक-अनैतिक मानदण्ड व मूल्य भिन्न-भिन्न होते हैं, इन्हीं मूल्यों को बुनियाद मानकर प्रत्येक काल की सामाजिक चेतना का आकलन किया जाता है । मार्क्स और एंगेल्स ने सामाजिक चेतना के निर्माण में आर्थिक व्यवस्था को बुनियाद मानते हुए लिखा है - "आर्थिक व्यवस्था ही वह मूलाधार है जिस पर राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संरचना निर्भर करती है तथा उसी के अनुरूप सामाजिक चेतना के विविध रूप निर्मित होते हैं।कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती, इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है ।"[1]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि मनुष्य की सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर एक स्पष्ट धारणा होती है।वह समाज में व्याप्त असन्तोषजनक मूल्यों में विरोधाभास को स्पष्ट करते हुए एक स्वस्थ पद्धति का विकास करना चाहता है । प्राचीन मूल्यों के

---

1. मार्क्स एंगेल्स - साहित्य और कला, पृ.-

खिलाफ नये मूल्यों के द्वन्द्व के बीच की प्रक्रिया सामाजिक चेतना का ही अंग है । व्यक्ति में अन्ध आस्था के विपक्ष में बोलने या खड़े होने की क्षमता तभी विकसित होगी जब वह अपने दिमागी कपाटों को खुला रखेगा । एक भ्रमित व्यक्ति तमाम बुराइयों को ओढ़े हुए जी लेता है।विरोधी क्षमता की बात तो दूर विरोध करने के तथ्य भी नहीं ढूँढ पाता । अत: सामाजिक चेतना ही वह तत्व है जो रूढ़ता के विरोध में व्यक्ति को सोचने का मादा प्रदान करती है तथा क्षमता युक्त बनाती है ।

सामाजिक जीवन मूल्य और सामाजिक चेतना में अन्तर

सामान्यत: सामाजिक जीवन मूल्यों और सामाजिक चेतना को पर्याय मान लिया जाता है परन्तु दोनों में स्पष्ट वैभिन्नय है । सामाजिक चेतना से तात्पर्य मनुष्य की तमाम परिस्थितियों जैसे आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक,राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय विषयों तथा साथ ही साथ सामाजिक जीवन की रूढ़ जर्जर मान्यताओं के खिलाफ नवीन सामाजिक जीवन्त मूल्यों की प्रस्थापना की चेतना तथा क्षमता ही सामाजिक चेतना कहलाती है ।

मनुष्य समाज में स्वस्थ जीवन जीने हेतु कुछ विषयों का विधान करते हैं।कुछ आचरण के मानदण्ड निर्धारित करते हैं।अपने पारिवारिक जीवन से अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं तक कुछ सीमाएं बांधकर विचार करते हैं।वे सामाजिक मूल्य ही होते हैं जो समाज में अनैतिक, भ्रष्ट कार्यों पर निषेध लागू करते हैं । सामाजिक मूल्यों के तहत ही व्यक्ति भ्रष्टाचार, चोर बाजारी, पाखण्ड परस्त्रीगमन का विरोध करता है । वे सामाजिक मूल्य ही हैं जो समाज में प्रेम, सहयोग,सदाचार, नैतिकता, करूणा, त्याग और आदर को ग्राह्णीय बताते हैं ।

सामाजिक मूल्य समयानुसार परिवर्तनीय होते हैं।एक समय के मूल्य आगे चलकर रूढ़ि बन जाते हैं, तब वे त्याज्य होते हैं।सामाजिक चेतना उन

मरणासन्न मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्यों की प्रस्थापना हेतु अपनी भूमिका का निर्वाह करती है।सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन हेतु सामाजिक चेतना का महत्व नकारा नहीं जा सकता । सामाजिक चेतना ही मूल्यों की मूल्यवत्ता, गुणवत्ता, अर्थवत्ता व कालसापेक्षता का मूल्यांकन करती है । सामाजिक चेतना ही मूल्यों को रूढ़ि बनने से बचाती है, मूल्यों को जर्जर होने से पूर्व ही उनको दफनाकर नवीनता का सृजन करती है। सामाजिक चेतना के अभाव में जर्जर, मरणासन्न मूल्य उस समाज को धीरे-धीरे बीमार करते हैं।अत: अन्तर स्पष्ट है कि सामाजिक मूल्य समाज में स्वस्थता व नियम बनाए रखने वाले कारक हैं तो सामाजिक चेतना उन मूल्यों की प्राणवत्ता को जीवित रखने व उनके विकृत हिस्से से समाज में रूग्णता फैलने के भय से काटकर फेंकने में सक्षम होती है ।

(ख) रचनाकार की चेतना

वर्ग विभाजित समाज में वर्गों के परस्पर विरोधी हितों के कारण वर्ग विरोध की स्थिति स्पष्ट करते हुए अपनी पक्षधरता को भैरव जी ने बहुत साफ-2 अभिव्यक्त किया है । भैरव प्रसाद गुप्त का लेखन सामंतवादी व पूँजीवादी व्यवस्था में पाई जाने वाली अस्वस्थ मानसिकता, विद्रूपता, मानव विरोधी आचरण व तमाम विकृत रिश्तों को लेकर, मानवीय सम्बन्धों से जुड़ी विसंगतियों एवं त्रासदी को लेकर इनका संवेदनशील रचनाकार प्रत्येक कृति में सर्वहारा का पक्षधर बनकर आता है । केवल पक्षधर बनकर ही नहीं वे मनुष्य को मनुष्य द्वारा रचे इस षड्यन्त्र जाल से मुक्त करने के लिए उसे एक टुकड़ा स्वतन्त्र जमीन और एक टुकड़ा स्वतन्त्र आसमां देने के लिए उस पर उसके जन्मसिद्ध अधिकार को मनवाने हेतु समाजवादी व्यवस्था में आस्था रखते हैं, तथा किसानों, मजदूरों में वर्गीय चेतना का ओज देकर उस वर्ग विरोधी गैर मानवीय हितों का उन्मूलन कर देना चाहते हैं । वे मानव-मानव के मध्य

केवल एक ही सम्बन्ध स्वीकारने को तैयार हैं, वह है मानवता का सम्बन्ध । अन्य सभी सम्बन्ध इस व्यवस्था में स्वार्थी कुचक्रों से रचे गये स्वार्थी हितों द्वारा अपनाई गई पाशविक चालें हैं जिनके खात्मे के बिना मनुष्य स्वतन्त्र सांस नहीं ले सकता । क्योंकि उस संघर्ष को दबाने वाली तमाम शक्तियों को इस मगरमच्छी हवस वाली व्यवस्था ने अपने टुकड़ों पर पलने वाले गुलाम पुलिस प्रशासन को अपने ईशारे पर नाचने वाला बन्दर बना दिया है । रक्षा विभाग अब न्याय देने का कार्य नहीं, उत्पीड़न का जिम्मा सम्भाले हुए है । न्याय वही पा सकता है जो रक्षा विभाग के तवे के नीचे आँच का प्रबन्ध करता है । जिसके स्वयं के पेट भरने का प्रबन्ध नहीं हो पाता उसे न्याय पाने का भी कोई हक नहीं है । भैरव जी की चेतना इन्हीं पीड़ितों के दमन, उत्पीड़न और शोषण की कहानी को अपने उपन्यासों का कथानक बनाकर आरम्भ होती है और अन्त वर्गीय चेतना, संगठन एवं जुझारु क्षमता से लड़ने वाले संगठनात्मक जीवन्त व्यक्तित्व वाले जननायकों की विजय में होता है ।

अंग्रेजी के आगमन के पश्चात भारत जिस प्रकार उद्योगीकृत होता जाता है, भारतीय ग्राम्य व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगती है । भारत जो एक स्वतन्त्र इकाई था अब वह एकताबद्ध ग्राम व्यवस्था टूट गई । छोटे-छोटे व्यवसाय करने वाले बढ़ई, कुम्हार, लोहार, दर्जी, जुलाहा आदि अपने पेशे को छोड़कर मजदूर बनने को विवश हुए तो दूसरी तरफ पूँजीवादी व्यवस्था से व्युत्पन्न अतिरिक्त लाभ के एक बार मुंह लगे मीठे लोभ रूपी रक्त ने भारतीय धनिक वर्ग को पूँजी के नशे में आकण्ठ डुबो दिया। एक ओर अंग्रेजी साम्राज्यवादी शोषण दूसरी तरफ राष्ट्रीय पूँजीवाद के उदय नें भारतीय जनता को चक्की के दो पाटों की भाँति पीस डाला ।

भारतीय श्रमिक कारखानों में मशीन के पुर्जे की भाँति अनवरण जुटकर उत्पादन का कर्ता मात्र बन गया । उसकी अपनी इच्छा-अनिच्छा सब पेट भरने

की आवश्यकता के भीतर ही कहीं दब गई । पूँजीपति की मिल में एक औजार से बेहतर उसकी स्थिति नहीं थी। वह माल का उत्पादन जितना अधिक करता, पूँजीपति उतना ही अधिक मालोमाल होता जा रहा था श्रमिक उतना ही अधिक दयनीय । दिन-रात श्रम करके भी फटेहाल रहना श्रमिक की नियति थी तो बिना हाथ-पैर हिलाए मालोमाल होना पूँजीपति की नियति । भैरव जी के उपन्यास इन शोषक-शोषित सम्बन्धों की जटिलता का बारीकी से अवलोकन ही नहीं करते अपितु इस बेमेल जीवन जीने वाली कुव्यवस्था पर प्रहार भी करते हैं । भैरव जी ने अपने सभी उपन्यासों में ग्रामीण व शहरी दोनों ही व्यवस्था के भ्रमजाल में भ्रमित जनता को, जो अपने शोषण का वास्तविक कारण नहीं समझ सकी है, एक स्पष्ट विचार देकर क्रांति-कारी बोध सम्पन्न करके उस व्यवस्था के विरोध में जनवादी चेतना से ओतप्रोत कर देते हैं । राजेश्वर सक्सेना का वक्तव्य बहुत सटीक जान पड़ता है —

"असली चोट तो उत्पादन के स्वामित्व और उसकी संस्कृति पर होनी चाहिए जिससे जिन्दगी पैदा होती है और पल्लवित होती है । जब तक उत्पादन पर स्वामित्व व्यक्ति और वर्ग का रहेगा तब तक रातों-रात रईस बनने की आकांक्षा प्रबल होती रहेगी ।"[1]

निस्संदेह भैरव जी ने "गंगा मैया," "सती मैया का चौरा" व "आग और आँसू" तथा अन्य उपन्यासों के माध्यम से सामन्ती व पूँजीवादी व्यवस्था जनित तमाम बुराईयों पर आक्षेप करते हुए इस अतिरिक्त लाभ कमाने वाली, अधिक हड़पने वाली, शोषितों का खून चूसने वाली गैर मानवीय शक्ति से मानवीय हितों का दोहन करने वाली व्यवस्था के प्रति विरोधी

---

1. सं0 - विद्याधर शुक्ल - भैरव प्रसाद गुप्त : व्यक्ति और रचनाकार पृ॰- 87.

चेतना का जागरण जन-जन में करने का प्रयत्न किया है।उनके उपन्यास किसी एक पात्र की शहरी जीवन की भोगी यातनाओं, संवेगात्मक असफलता की विडम्बना या यौन सम्बन्धों से व्युत्पन्न काम कुंठा की समस्या को लेकर नहीं लिखे गये अपितु इनकी चेतना व्यापक मुद्दों से सरोकार स्थापित करती हुई बुराइयों की जड़ को व्यक्ति के मन की थाह में नहीं वरन व्यवस्था की दोगली नीति में खोजती है ।

भैरव प्रसाद गुप्त का मानना है कि सामंतवादी, पूँजीवादी व्यवस्था के चलते अन्तर्विरोध कायम रहेगा ही । एक स्वस्थ जीवन की शुरुआत के लिए व्यवस्था के दोषों को पाटना आवश्यक है और इस वर्तमान व्यवस्था के दोष कहीं से चीरफाड़ करके, टाँका लगाकर दूषित हिस्से को निकाल फेंकने से नहीं पाटे जाएंगे बल्कि यह समूची व्यवस्था ही सड़ी-गली है, मरणासन्न है, धीरे-धीरे जहर फैलाने का कार्य कर रही है । यह वातावरण विषाक्त हो, इससे पूर्व ही इस व्यवस्था को कभी पुन: न लौटने वाली कब्र में दफनाने की आवश्यकता है । तथा एक नई व्यवस्था की स्थापना आवश्यक है, जो व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की जिम्मेदारी ले सके तथा व्यक्ति को व्यक्ति पर हावी न होने देने का दर्शन मनुष्य के मन में पैदा करे ताकि कोई मनुष्य अतिरिक्त लाभ कमाकर दूसरे से श्रेष्ठ होने का दावा करने का दूषित ख्याल ही मन में न जाए । भैरव जी साम्यवाद को ऐसी अन्तिम विकल्पहीन व्यवस्था मानते हैं, जहाँ व्यक्ति रोजी-रोटी व जीवन की सुरक्षा की गारन्टी पा सकता है । तथा पूँजीवादी विकरालता जनित यातना से छुटकारा भी । भैरव जी के सभी उपन्यास साम्यवाद की स्थापना हेतु प्राण फूंकने वाले मन्त्र बनकर आए हैं ।

"गंगा मैया" उपन्यास का पात्र "मटरू" किसानों के संगठन बनाकर जमींदारों की भूमि बन्दोवस्त प्रणाली का विरोध करके सभी कृषकों को अपने श्रम पर किसी बिचौलिए की भूमिका को निरर्थक सिद्ध करते हुए

"गंगा की दीयर" पर अनेकानेक झोंपड़ी बनाकर जमींदारों के विरुद्ध एक लड़ाकू संगठन तैयार करके, जो जमींदारों के बर्बर हौंसले को पस्त कर देता है । भैरव जी ने "गंगा मैया" में वर्गीय चेतना से चालित वर्ग संघर्ष के माध्यम से साम्यवादी दर्शन में आस्था रखी है तो "सती मैया का चौरा" में मन्ने और मुन्नी के माध्यम से रचनाकार ने सामन्ती पूँजीवादी दोहरे शोषण की चक्की में पिस रहे भारतीय जनमानस के शोषण के विविध स्वरूपों जैसे जमींदार - किसान के परस्पर विरोधी हितों, शहर के पूँजीवादी भ्रष्ट सरकारी संस्थानों, साम्प्रदायिकता तथा जातीय भावना एवं उपभोक्ता वर्ग की अंधी भौतिक हवस जो कानून, न्याय व प्रशासन को अपने हाथों कठपुतली बनाकर अपनी संस्कृति की अधिकाधिक समृद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं । इस दानवी व्यवस्था के खिलाफ मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग में चेतना का स्फुरण करके रचनाकार संगठनात्मक तरीके से संघर्ष करवाकर साम्यवाद की स्थापना का इच्छुक है । "आग और आँसू" उपन्यास में भैरव जी सामन्ती आचरण की कामलिप्सा, भोगेच्छा व नारी के प्रति वस्तुवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध दासी "मुंदरी" में बगावत का भाव दिखाकर सामन्ती तड़क-भड़क के भीतर छुपी कलुषता को नंगा कर देती है । "मुंदरी" एक दास "पेंगा" के साथ हवेली से भागने की योजना बनाकर तथा रानी पानकुँवरि सामन्त की ब्याहता होकर भी जिन्दगी भर अपने प्रेमी को ही मानसिक रूप से समर्पित रहकर, कभी एक क्षण के लिए भी सामन्त को पत्नीत्व नहीं प्रदान करके सामन्ती घुटन का पर्दाफाश करती है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भैरव जी की चेतना सर्वहारा-बोध की चेतना है । सर्वहारा-बोध की छटपटाहट को लेकर वे व्यवस्था की अंधेरी गलियों, गुफाओं में प्रविष्ट होते हैं, वहाँ इस छटपटाहट में कमी की कोई सम्भावना न देखकर घोर विरोध और भयंकरतम प्रताड़ना के मध्य वे ऐसी विकराल व्यवस्था के विरोधी बन जाते हैं । उन्हें अन्तिम विकल्पहीन

व्यवस्था साम्यवाद ही दिखाई देती है तभी तो "सती मैया का चौरा" का "मन्ने" के माध्यम से मानो रचनाकार स्वयं ही बोल उठा हो —

"हमारे देश में भी कम्यूनिज्म आ जाए तो कितना अच्छा हो । व्यक्तिगत रूप से अपने-अपने जीवन संघर्ष में लगे रहने के कारण देश का कितना समय, कितनी शक्ति बरबाद हो जाती है । सामूहिक रूप से सभी लोग मिलकर संघर्ष करें तो यह प्रक्रिया कितनी सरल हो जाए ··· उत्पादन के सभी साधनों पर राष्ट्र अपना अधिकार प्राप्त करके, पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों तथा उपभोक्ताओं का शोषण समाप्त कर दे तो गरीबी-अमीरी का सवाल ही क्यों पैदा हो ।"[1]

भैरव जी अपने उपन्यासों के माध्यम से सर्वहारा पक्षधरता के हिमायती स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हुए व्यक्तिवादी संस्थाओं के घोर शत्रु रूप को उजागर करते हैं।सामन्तवाद और पूँजीवाद जो अपना अस्तित्व शोषण के बल पर ही कायम रखते हैं, भैरव जी ऐसी व्यवस्था के जन्मजात शत्रु हैं । उत्पादन के साधनों पर किसी एक व्यक्ति या एक वर्ग का हाथ होने पर वह अधिकाधिक हड़पने के लोभ से चालित होता है।इस लोभ के चलते शोषण केवल श्रमिक का होता है । अत: भैरव प्रसाद गुप्त उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिवादी अधिकार समाप्त करके सभी व्यक्तियों को समान रूप जीने का हक देना चाहते हैं । व्यक्तिवादी संस्थाओं के कायम रहने से श्रम को बेच कर जीने वाला श्रमिक शोषित रहेगा । शोषक-शोषित के भेद ने ही भैरव जी की रचनाधर्मिता में कशिश, छटपटाहट, आक्रोश और आत्म-संघर्ष के स्वर बुलन्द किए हैं।यह छटपटाहट और आक्रोश मिलकर व्यवस्था के प्रति इनके रवैये को निषेधात्मक बना देते हैं।यही भैरव जी की रचनात्मक चेतना है, यही उनका आत्म-संघर्ष है, यही उनकी व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की दिनचर्या है ।

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ॰-528.

(ब) चेतना को प्रभावित करने वाले कारक

सामान्यत: मनुष्य अपने बारे में, अन्य जीवधारियों के बारे में, परिवार, समाज, संस्कृति एवं इतिहास के बारे में एक स्पष्ट मान्यता, विचार या संवाद की गुंजाईश रखता है।यही उसकी सामाजिक चेतना है । चेतना के विकास के लिए उस समय की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियां एक हद तक प्रभावित करती हैं । समाज से अलग रहकर चेतना का विकास हो ही नहीं सकता और यदि होता है तो वह चेतना समाज सापेक्ष नहीं होगी जिसकी सामाजिक सन्दर्भ में कोई प्रासंगिकता भी नहीं होगी । उस समय का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व इन पर निर्भर सांस्कृतिक इतिहास मनुष्य की वैचारिक चेतना के लिए आधारभूमि का कार्य करता है । यह तो स्पष्ट है कि रचनाकार की चेतना अपनी समकालीन परिस्थितियों से विच्छिन्न नहीं होती, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जैसी परिस्थितियां होंगी साहित्य सृजन भी वैसा ही हो । साहित्य उन परिस्थितियों की कुरूपताओं के विरोध में भी लिखा जा सकता है, और लिखा जाता रहा है । वह सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब मात्र बनकर ही नहीं रह जाता अपितु अपने विचारानुसार, आदर्शानुसार मनचाहे संसार की स्थापना करना चाहता है वहीं साहित्य समकालीन व्यवस्था के विरोध में जा खड़ा होता है ।

जैसे-2 युग परिवर्तन होता है तदनुसार मूल्यों में बदलाव भी अवश्यम्भावी होता है । कट्टरपंथी लोगों के लिए यह परिवर्तन कष्टकर होता है क्योंकि परिवर्तन से उनके ठहरे हुए दर्शन बाधा उत्पन्न होती है । परन्तु जब वे मूल्य एक-एक व्यक्ति के न रहकर सामूहिक रूप से सामाजिक स्वीकृति पाते हैं तब सर्वमान्य बन जाते हैं । यद्यपि यह द्वन्द्व कभी खत्म न होने वाला होता है क्योंकि एक लम्बे अन्तराल के बाद नवीन मूल्यों की

सामूहिक स्वीकृति मिलती है।इसी बीच कुछ और मूल्य पनप जाते हैं।सामूहिक स्वीकृति मिलने में समय लगता है परन्तु ये सामूहिक स्वीकृत मूल्य निर्विवाद से उस युग की चेतना के भीतर ग्रहण कर लिये जाते हैं और यह युग चेतना आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है।आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का वक्तव्य काफी इसे स्पष्ट करता है -

"अब यह माना जाता है कि हम साहित्य से समाज का, सामाजिक जीवन का, सामाजिक विचारधाराओं का, वादों का सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु अनुवर्ती रूप में साहित्य की अपनी सत्ता के अन्तर्गत उसके निर्माण में इनका स्थान है ये उत्पादन और हेतु हुआ करते हैं ।"[1]

(क) आर्थिक परिस्थितियाँ

साहित्यकार की चेतना अपने समय की अर्थ व्यवस्था से पूरी तरह प्रभावित होती है क्योंकि सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाला प्रमुख तत्त्व अर्थ ही होता है।आर्थिक प्रगति जहाँ समाज को सुसंस्कृत बनाती है, वहीं व्यक्ति को रोजी-रोटी के संघर्षों से मुक्त करके विकास के अवसर प्रदान करती है।यह बहुत स्पष्ट है कि जब व्यक्ति अपनी आवश्यक आवश्यकताओं जैसे रोटी, कपड़ा और आवास की चिन्ता से मुक्त हो पाएगा तभी अपना स्वस्थ शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सांस्कृतिक विकास कर पाएगा । भारत में जहाँ कुछ लोग धन पर सर्प की भाँति कुण्डली मार कर फन फैलाए बैठे हैं वहीं एक बहुत बड़ा समुदाय अपने दिन का चैन और रात की नींद रोटी, पानी और आवास की फिक्र में जाया करता है । जब व्यक्ति अपनी रोजमर्रा की आवश्यकताओं के बाहर कुछ सोच ही नहीं पाता तो उसके स्वस्थ शारीरिक, मानसिक विकास की बात तो दूर की कौड़ी होगी ।

---

1. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी - नया साहित्य नये प्रश्न, पृ॰- 17.

भारत प्रारम्भ से कृषि प्रधान देश होने के कारण आत्म निर्भरता की स्थिति में रहा है परन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय कमजोर शासन व्यवस्था का लाभ उठाकर अपना राज्य विस्तार करना आरम्भ किया । उसी समय इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति होने के कारण भारत से कच्चा माल लेकर इंग्लैंड के लिए बाजार की व्यवस्था की गई । भारत अपने ही घर में निर्वासित सा कच्चा माल देकर इंग्लैंड के मशीनीकृत, परिष्कृत माल का खरीददार बना । एक समय सोने की चिड़िया कहलाने वाला भारत आर्थिक दृष्टि से पंगु हो गया । अत: भारतीय जनमानस में अंग्रेजी राज्य के प्रति आक्रोश फैला तो तत्कालीन साहित्य भी उस जन-आक्रोश को अपनी अभिव्यक्ति का केन्द्र बनाने लगा । भारतेन्दु व समकालीन रचनाधर्मियों ने भारतीय धन-सम्पदा को विदेश ले जाने की अंग्रेजों की कुटिल नीति के विरोध में सशक्त अभिव्यक्ति दी । जमींदारी व्यवस्था लागू होने से किसानों की स्थिति दयनीय होती गई । कृषक शोषित, अपमानित, बेघरबार हो गया । भारतीय ग्राम्य व्यवस्था चरमराने लगी ।

TH - 2545

पूँजीवाद के उदय के साथ ही साथ गाँव का भूमिहीन किसान रोजी-रोटी की तलाश में शहरों में जाकर मजदूर बनने को विवश हुआ । शहरी प्रभाव देहाती निपटता में जागरूकता लाने लगा । धीरे-धीरे ठेठ ग्रामीण मजदूर जो शहर चले गये थे वे अपने शोषण का कारण भगवान को न मानकर उस व्यवस्था में देखने लगे । अब जमींदारों की ऐयासी का मूल उन्हें कुदरती देन में नजर नहीं आया अपितु उनकी शोषक वृत्ति ही इनकी लम्पटता का सुराग नजर आने लगी । अत: साहित्यकार की चेतना जन-चेतना से प्रभावित होकर अपनी रचनाओं में ऐसे पात्रों का सृजन करने लगी जो उस कुव्यवस्था का विरोध करके नयी व्यवस्था की स्थापना के लिए जी-जान से तत्पर थे । "गोबर" के रूप में प्रेमचन्द ने प्रकारांतर से परिवर्तित हो रही चेतना के आक्रोश को ही व्यक्त किया है ।

DISS
0,152,3,N1,G:9
152M7

पूँजीवाद के उदय के कारण व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति उनकी कुंठाएं, संत्रास, त्रासदी को जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी व अज्ञेय ने मनोविश्लेषण की गहन घाटियों में प्रविष्ट होकर मानवीय मन की ऊँचाई-निचाई, आलोड़न-विलोड़न का जायजा लेते हुए बहुत ही सूक्ष्मता से सच्चाई को उभारा है तो रेणु, नागार्जुन व भैरव प्रसाद गुप्त ने अपनी सशक्त रचनाओं के माध्यम से सामन्ती पूँजीवादी असंगतियों का खुलासा चित्रण किया है अत: स्पष्ट है कि जैसे-जैसे आर्थिक परिस्थितियां परिवर्तित हुई वैसे-वैसे समाज की चेतना में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा और सामाजिक चेतना में परिवर्तन होने के साथ ही रचनाकार की चेतना स्वत: ही परिवर्तित होती गई । अंग्रेजी राज्य की स्थापना से लेकर सामन्ती व पूँजीवादी असंगतियों का रचनाकार की चेतना में आता हुआ परिवर्तन आर्थिक व्यवस्था के बदलाव के कारण ही सम्भव हुआ । "मार्क्स एंगेल्स" ने आर्थिक ढांचे को आधार मानते हुए जीवन की तमाम स्थितियों जैसे सामाजिक राजनैतिक और बौद्धिकता को अर्थ से चालित मानते हुए लिखा है —

"उत्पादन सम्बन्धों का पूर्ण योग ही समाज का आर्थिक ढांचा है - वह असली बुनियाद है, जिस पर कानून और राजनीति का उपरी ढाँचा खड़ा होता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं । भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की आम सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है ।"[1]

---

1. मार्क्स एंगेल्स : साहित्य तथा कला, हिन्दी अनुवाद, प्रगति प्रकाशन, 1981.

(ख) राजनैतिक स्थिति

रचनाकार की चेतना पर जिस प्रकार आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव सर्वाधिक पड़ता है लगभग उतने ही अनुपात में राजनैतिक परिस्थितियों का भी । हम देखते हैं कि 1920 से लेकर 1936 तक की भारतीय राजनीति में गांधीजी के आगमन से साहित्यकार की चेतना काफी प्रभावित हुई । विवेच्य काल में भारतीय जनता गुलामी की बेड़ियों को तोड़ फेंकने के लिए पूरी तरह आमादा थी, यद्यपि सफलता प्राप्त करने में काफी समय लगा परन्तु अंग्रेजी शासन के कुलन्द हौंसले एक बारगी कुछ सोचने को अवश्य ही विवश हुए । उन्हें अपनी अन्धी कूटनीति और चालाकी के पैंतरों की धार को और अधिक तीव्र करने के लिए नयी प्रणाली ईजाद करनी पड़ी । गांधी जी की असहयोग की नीति, अंहिसात्मक सिद्धान्त और 1920 के असहयोग आन्दोलन से पूरा भारतीय जनमानस प्रभावित हुआ । उसी समय हमारे साहित्यकारों पर पड़े राजनैतिक प्रभाव को हम प्रेमचन्द, सियारामशरण गुप्त व जैनेन्द्र के साहित्य से सहज ही समझ सकते हैं ।

1917 की रूस की क्रान्ति के पश्चात भारत में मार्क्सवाद का प्रचार होना आरम्भ हुआ । वर्गीय चेतना, वर्ग संघर्ष को कुछ-कुछ समझा जाने लगा । रचनाकार गांधीजी की अहिंसात्मक नीति को अधिक कारगर न मानकर मार्क्स के सिद्धान्तों में विश्वास करने लगे । "हृदय परिवर्तन" जैसे सिद्धान्तों से उनका विश्वास उठ खड़ा हुआ। अब वे अपनी ताकत, संगठन और वर्गीय चेतना के बल पर एक ऐसे समाज की स्थापना में विश्वास करने लगे जहाँ प्रत्येक व्यक्ति आजीविका की गारंटी पाता है,[और2] रूस की व्यवस्था उनके सामने उदाहरण थी । प्रथम विश्व युद्ध व द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य पूँजीवाद के उदय होने के साथ ही मध्य वर्ग भी पनपने लगता है । मध्यवर्ग के एक ओर स्वयं को उच्च वर्ग में शामिल करने की भीतरी कशिश दूसरी ओर वास्तविक स्थिति निम्न

वर्ग के समकक्ष होने की थी । इसी भीतरी द्वन्द्व के कारण उनमें व्युत्पन्न खोखलापन, प्रदर्शन की प्रवृत्ति, संघर्ष से पलायनवादिता व श्रम के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को रचनाकारों ने अपनी चेतना का विषय बनाया ।

इन सबके अतिरिक्त साम्यवाद से प्रेरित किसान-मजदूर संगठन, व उनके आन्दोलन को लेकर तो जैसे साहित्य में बाढ़ ही आ गई । कृषक वर्ग की दयनीय आर्थिक सामाजिक स्थिति, उस पर होने वाले जमींदारी, महाजनी अत्याचार और अन्धविश्वास, कुरीतियाँ, अशिक्षा व भाग्यवादिता को लेकर बहुत सी रचनाएँ सामने आई । रेणु, रांगेय राघव, अमृतराय, नागार्जुन व भैरव प्रसाद गुप्त का साहित्य सामन्ती, पूँजीवादी व्यवस्था की असंगतियों को लेकर लिखा गया है, इन रचनाकारों की चेतना साम्यवादी दर्शन से बहुत प्रभावित है । वे वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष से ही वर्तमान व्यवस्था से छुटकारा पाने का एकमात्र निदान मानते हैं । इसलिए नागार्जुन का "बलचनमा" और भैरव प्रसाद का "गंगा मैया" का "मटरू" अपनी व्यक्तिगत जीवन की सीमाओं से उबर कर कृषकों में राजनैतिक चेतना फैलाते है, संगठन बनाते हैं तथा जमींदारी शोषण के खिलाफ हल्ला बोलते है तो कहीं मजदूर एक जुट होकर मिलों में हड़ताल करते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि राजनैतिक परिस्थितियों में जैसे-जैसे परिवर्तन आता गया वैसे-वैसे साहित्यकार की चेतना उससे प्रभावित होती रही । अब सजग साहित्यकार कांग्रेस के इतने लम्बे समय में उसकी निष्क्रियता व कांग्रेसी नेताओं की दूसरों का पेट काटकर स्वयं की तोंद बढ़ाने वाली नीति से असंतुष्ट होकर सत्तारूढ़ पार्टी का विरोध करते हैं।अमृतराय के "बीज" में नागार्जुन के में व भैरव प्रसाद गुप्त के "सती मैया का चौरा" में प्रत्यक्षत: कांग्रेस की कार्य प्रणाली के प्रति विरोध दृष्टव्य है ।

....25..

(ग) सामाजिक व्यवस्था

भारतीय प्राचीन सामाजिक व्यवस्था आधुनिक ज्ञान विज्ञान व पश्चिमी प्रभाव से मुक्त थी परन्तु भारत में अंग्रेजी शासन के चलते अनेकानेक राजनैतिक, सामाजिक सुधारवादी आन्दोलन हुए । प्रबुद्ध, प्रशिक्षित महानुभावों ने भारतीय जनमानस को उनके दर्शन की उच्चता की ओर संकेत किया साथ ही साथ पाश्चात्य देशों से स्वतन्त्रता, समानता, भातृत्व, विश्वबन्धुत्व की भावना को बढ़ाते हुए संकीर्णता को पाटने का एक हद तक प्रयास किया जिसके फलस्वरूप भारतीय जीवन में, चाहे वह नारी जाति के उत्थान का पक्ष हो जिसमें पर्दा प्रथा, विधवा विवाह, सती प्रथा आदि के प्रसंग हो या जातिवाद तथा अस्पृश्यता का प्रसंग हो या धार्मिक रूढ़ता की बात हो, सभी सामाजिक क्षेत्रों में भारतीय नव-जागरण के दौर में जनता बौद्धिकता से प्रेरित हुई तथा अपनी अन्ध मान्यताओं में लचीले ढंग से परिवर्तन लाने हेतु स्वीकारात्मक रवैया अपनाया । आज का समाज पहले की अपेक्षा जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि मान्यताओं पर उतना विश्वास नहीं करता । इसलिए आज से पहले के साहित्यकार के समक्ष केवल नारी से सम्बन्धित समस्याएं ही अधिक विकराल रूप लिए उपस्थित रहा करती थी । नारी की दयनीय स्थिति, सतीप्रथा, बालविवाह, पर्दाप्रथा, दहेज, बहुविवाह सभी प्रथाओं में नारी का ही शोषण होता था । जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता गया, रूढ़ियों की तानाशाही में कुछ कमी आई, नारी भी शिक्षा ग्रहण करने लगी तो पाश्चात्य मूल्यों में आस्था स्वत: ही पनपने लगी । शिक्षा के दौरान पर्दा प्रथा टूटने लगी, विवाह में नारी स्वयं अपनी इच्छा-अनिच्छा रखने लगीं वहीं दहेज एवं बाल-विवाह में भी कमी आई । केवल यही नहीं, पूँजीवाद के विकास के दौरान ग्रामीण भूमिहीन किसान शहरों में आजीविका के लिए भागने लगे तो उसके खान-पान, आवास की समस्या, शहरी व ग्राम्य जीवन मूल्यों का परस्पर द्वन्द्व शहरी कृत्रिम जीवन

की घुटन कुंठाएं, व्यक्तिवाद, छल-कपट की भावनाओं का भी व्यक्ति शिकार होने लगा । व्यवस्था के हाथों पड़कर गाँव का भोला-भाला, मासूम, सरल जीवन जीने वाला ग्राम्य मनुष्य शहरी जीवन की विभिषिकाओं के पंजे में कसकर चालाक बन गया ।

प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास साहित्य में राष्ट्रीय जागरण के अभाव के कारण उपन्यासकारों ने अंग्रेजी राज्य के प्रति कहीं भी आक्रोश व्यक्त नहीं किया । उस समय केवल धार्मिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों व मध्यवर्गीय व्यापारियों की साधारण समस्याओं को लेकर उपन्यासों का सृजन हुआ । नारी समस्याओं के केन्द्र में थी । किशोरीलाल गोस्वामी, गंगा प्रसाद गुप्त ने रूढ़िवादी धर्मभीरू व परम्परागत मूल्यों को जीने वाली नारी को श्रेष्ठ ठहराया । विधवा, पुनर्विवाह व अन्तर्जातिय विवाह का विरोध किया । गंगा प्रसाद गुप्त के उपन्यासों में नारी स्वतन्त्रता विरोधी कट्टर रूप को देखा जा सकता है ।

धीरे-धीरे हिन्दी साहित्य में पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्कवश यथार्थवादी प्रवृति का विकास लक्षित होता है । प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में उस समय का भारतीय जनमानस अपने विविध रूपों व आयामों के साथ अवतरित होता है । प्रेमचन्द जी के समय पुनरूत्थानवादी संस्थाओं के प्रयासवश रूढ़िग्रस्त समाज में कुछ परिवर्तन हुए । प्रेमचन्द अपने पूर्व के साहित्यकारों की जर्जर विचार प्रणाली के विरूद्ध स्वस्थ वैचारिक नींव डालने का प्रयास कर रहे थे । उनके सभी उपन्यास दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, अस्पृश्यता, जातिवाद का विरोध करते हुए विधवा पुनर्विवाह तथा अन्तर्जातिय विवाह का समर्थन करते है साथ ही साथ मध्यवर्ग की ज्वलन्त समस्याओं, उनके खोखलेपन, प्रदर्शन की प्रवृति व भीतरी टूटन को वे बहुत गहराई से देखते है ।

वर्तमान समय में उद्योगिकरण एवं संस्कृति के प्रजातन्त्रीकरण के परिणामस्वरूप पारिवारिक जीवन का महत्व पूर्व की अपेक्षा काफी कम हुआ है । औद्योगिक अर्थ व्यवस्था के विकास के चलते अब पूँजीपति और मजदूर वर्ग भी प्रकाश में आए । निम्न एवं मध्य वर्ग के संघर्ष अब उपन्यासों के मुख्य स्वर बनने लगे । शहरी मध्यवर्ग के विश्वास, मान्यताएं उनकी कायरता-दृढ़ता, उच्च-वर्गोन्मुखता, निम्नवर्ग के प्रति घृणा भाव, श्रम के प्रति हीन भाव, कुर्सी लोलुपता, उनकी आर्थिक विषमता, नारी-पुरूष सम्बन्ध, प्रेम-विवाह, यौन सम्बन्ध, मनोग्रन्थियों की अभिव्यक्ति भी होने लगी । पूँजीवाद के दौरान शोषण, मुनाफाखोरी, कालाबाजारी, रिश्वत खोरी आदि की बढ़ोत्तरी से जन-सामान्य का जीवन दुरूह होता गया । स्वतंत्र भारत का शासक वर्ग प्रशासन में जनहित की प्रेरणा से प्रेरित होकर नहीं अपितु जनहित के बध करने के षड्यंत्र से जनता को आतंकित किए हुए था । प्रत्येक सरकारी कार्यालय, उत्सवों, पार्टियों, दावतों के अड्डे बन गए । सरकारी अस्पताल प्राइवेट प्रेक्टीस के केन्द्र बने तो पुलिस विभाग का स्वरूप तो "रक्षक" के स्थान पर "भक्षक" हो ही गया । बदलती हुई समाज व्यवस्था प्रेमचन्द के पूर्व की चेतना में एक भारी परिवर्तन लाने में सक्षम रही इसमें कोई संदेह नहीं ।

(घ) धार्मिक मतवाद

धर्म साहित्य को आरम्भ से ही प्रभावित करता आ रहा है। वर्तमान समय में तो जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि के परिणामस्वरूप हमारी अन्य मान्यताएं, धार्मिक रूढ़ियां व कट्टर नैतिक मान्यताओं में पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं । स्वतन्त्रता पूर्व के भारत के सामने गुलामी की बेड़ियों से मुक्त होने का प्रश्न, साम्प्रदायिक तनाव, अकाल, भुखमरी, गरीबी आदि ने व्यक्ति के पुरातन मूल्यों, मानदण्डों में मूलभूत परिवर्तन लाकर ईश्वर के

प्रति अन्ध मान्यता में स्वत: ही निराकरण कर दिया । वर्तमान व्यवस्था विद्रूपताओं एवं विसंगतियों ने व्यक्ति के मन में धार्मिक मान्यताओं के प्रति आक्रोश, ईश्वर के प्रति खीझ व धर्म के प्रति अविश्वास का दृष्टिकोण पैदा किया और मार्क्सवादी दर्शन ने जगत के मूल में भौतिक तत्त्व अथवा "मैटर" मानकर ईश्वर की धारणा को निर्मूल सिद्ध किया। जिससे जनता जागृत होकर धर्म को शोषण का अस्त्र मानने लगी । इससे पूर्व की परिस्थितियों पर गौर किया जाए तो हम पाते हैं कि 16वीं शताब्दी में धर्म मनुष्य के जीवन का सर्वेसर्वा बन चुका था । व्यक्ति अपने समाज, अपनी संस्कृति, अपने राज्य तथा अपने देश को महत्त्व न देकर धर्म में आकंठ डूबा हुआ था। उसके लिए वर्तमान उपेक्षणीय था, मोक्ष प्राप्ति चरम लक्ष्य । उसका वर्तमान अनेकानेक पुरातनपन्थी मान्यताओं, रूढ़ियों से चिपका हुआ ईश्वर चिंतन, मनन, धर्मग्रन्थ पाठन में व्यतीत हो रहा था । धीरे-धीरे 19वीं शताब्दी में ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने धर्म के माध्यम से भारतीय धर्म की रूढ़ियों पर प्रहार किया जिससे भारतीय चिन्तनशील मनीषा ने अपने धर्म में लचीलापन लाने हेतु उसमें जर्जर, मरणासन्न रूढ़ियों का परिष्कार आवश्यक समझते हुए धार्मिक आन्दोलन किए । धर्म में कट्टरता का स्थान विश्वबन्धुत्व, सह-अस्तित्व, सहयोग, प्रेम और त्याग ने ले लिया और तत्कालीन साहित्य इससे पूरी तरह प्रभावित हुआ । अब साहित्य में रचनाकार की चेतना नयी मान्यताओं को अपनी रचनाओं का केन्द्र बिन्दु बनाने लगी ।

(च) सांस्कृतिक मान्यताएँ

जब किसी देश की आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक ढाँचा, राजनैतिक परिस्थितियाँ व आर्थिक मान्यताओं में परिवर्तन होता है तो वहाँ की संस्कृति स्वत: ही परिवर्तित हो जाती है । भारतीय संस्कृति की जहाँ अपनी कई विशिष्टताएं थी जैसे प्रकृति प्रेम, नारी के प्रति आदर भावना,

आध्यात्मिकता, प्रेम, त्याग, समर्पण, अतिथि सेवा, सर्वधर्म समभाव आदि वहीं ये विशिष्टताएं पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क आने के परिणाम स्वरूप परिवर्तित हुई । विज्ञानवादी दृष्टिकोण ने जीवन में भ्रम के स्थान पर प्रत्यक्ष प्रमाण-वाद को स्थापित कर आध्यात्मिकता की आस्था में दरारें पैदा कर दी जिससे धर्म का अखंड स्वरूप छिन्न-भिन्न होने लगा । प्रेम, त्याग, समर्पण और अतिथि सेवा जैसे सामाजिक आचरणों में भी सापेक्षता को अपनाया जाने लगा । नारी के प्रति आदर और श्रद्धा के भाव के स्थान पर समानता का भाव पैदा हुआ । अत: आज का साहित्य हमारी पुरातन भारतीय सांस्कृतिक मान्यताओं को न ढोकर युगानुकूल परिवर्तित स्वरूप सांस्कृतिक मान्यताओं को ग्रहण करता हुआ अपने से पूर्व के साहित्यिक मूल्यों में पर्याप्त परिवर्तन लिए जनता के समक्ष उपस्थित हो रहा है।इस प्रकार स्पष्ट है कि जैसे-जैसे सांस्कृतिक परिस्थितियां परिवर्तित हुई वैसे ही रचनाकार की चेतना स्वत: ही परिवर्तित होने लगी । भारतीय रचनाकारों की सांस्कृतिक चेतना में परिवर्तन आने का कारण योरोपीय भौतिक संस्कृति तथा जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रमुख रहे । स्पष्टीकरण के लिए चण्डी प्रसाद जोशी का वक्तव्य दृष्टव्य है —

"औद्योगिक सभ्यता वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा योरोपीय भौतिकवादी संस्कृति ऐसे ही क्रान्तिकारी तत्त्व थे जिनका भारतीय सामन्तवादी सभ्यता, विश्वासमूलक दृष्टिकोण तथा धार्मिक आध्यात्मिक संस्कृति से संघर्ष हुआ । इस संघर्ष ने नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया ।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि रचनाकार अपने से निर्लिप्त, तटस्थ रहकर साहित्य सृजन नहीं कर सकता और यदि वह करता है तो उस साहित्य की

---

1. चण्डी प्रसाद जोशी - हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ. - 20.

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में कोई प्रासंगिकता नहीं है।वह मात्र अपनी कुंठाओं की अभिव्यक्ति बनकर रह जाएगा । समय उसे फाड़कर अतीत की हवा में उसकी चिन्दी-चिन्दी को उड़ाकर अपनी गति पकड़ लेता है । साहित्यकार का संसार सामाजिक जीवन से अलग थोड़ा व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुपम नहीं होता अपितु वह अपने जीवन का स्पन्दन अपने आस-पास के परिवेश में ही देखता है । अत: रचनाकार की चेतना चूँकि अपने समाज, अपने समय, अपनी परिस्थितियों से प्रभावित होती है इसलिए यह सहज ही कहा जा सकता है कि साहित्यकार की चेतना समाज की प्रतिबिम्ब मात्र बनकर ही नहीं रह जाती,वह दिशा देने का कार्य भी करती है परन्तु वह अपने समय की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित अवश्य होती है । इस सम्बन्ध में एक मार्क्सवादी आलोचक "एडवर्ड अपवर्ड" का वक्तव्य उल्लेखनीय है —

"कवि की उपमा, उत्प्रेक्षाओं और औपन्यासिक पात्र उसके निरे दिमाग की उपज नहीं होते बल्कि उसके चारों ओर के संसार से निर्दिष्ट होते हैं । उसके लिए शब्द तक बिल्कुल वैसे ही होते हैं जो उसके चारों ओर के संसार में बोले और लिखे जाते हैं ।"[1]

---

1. हंस - फरवरी-मार्च, 1943 (प्रगति अंक) से उद्धृत .

अध्याय - दो

(अ) साहित्य और चेतना का सम्बन्ध

(ब) साहित्य में सामाजिक चेतना

1. राजनैतिक चेतना
2. सांस्कृतिक चेतना
3. आर्थिक चेतना

अध्याय - दो

(अ) साहित्य और चेतना का सम्बन्ध

मनुष्य जब सृजनरत होता है तब उसकी चेतना हर समय कुछ नवीन सरोकारों से जुड़ाव स्थापित करती है । प्रत्येक चिन्तनशील प्राणी अपने समय और उस परिस्थितियों का प्रबुद्ध चेता होता है।वह कुछ ऐसी नवीनता की स्थापना करने की चाह रखता है जो मनुष्य की जीर्ण-शीर्णता का स्थान नयी ताज़गी, नयी सुबह और नई सोच ले ले। फलतः सृजन के क्षणों में युग की चेतना और परम्परा से प्राप्त उसकी पुरातन चेतना के मध्य संघर्ष पैदा होता है । द्वन्द्व की प्रक्रिया से गुज़रते हुए रचनाकार जीवन्त मूल्यों की रग पकड़ लेता है और वही उसकी युग चेतना कहलाती है जो पूरे सामाजिक ढाँचे और जीवन को प्रभावित करती है ।

युग चेतना ही किसी समाज का सही अंकन हमारे समक्ष स्पष्ट कर सकती है । साहित्यकार के समक्ष यह विवशता होती है कि सृजन के साथ-साथ युग चेतना की अभिव्यक्ति करे । रचना का अनचाहे ही युग चेतना से अभिन्न सम्बन्ध होता है । यद्यपि युग को देखने सोचने समझने की रचनाकार की अपनी अन्तर्दृष्टि होती है,फिर भीआन्तरिक जिज्ञासा, जिजीविषा और भीतरी सुलग ही उसकी युग-चेतना के निर्माण में पृष्ठभूमि का कार्य करती है । कालगत दूरी के कारण प्रत्येक युग की चेतना में वैभिन्नय दृष्टिगोचर होता है। दूसरे रचनाकार का मानसिक विकास व परिस्थितिजन्य व्युत्पन्न संसार भी

उसकी चेतना के निर्धारण में प्रयत्नरत होता है। इस सम्बन्ध में "हजारी प्रसाद द्विवेदी" का वक्तव्य दृष्टव्य है - "वैज्ञानिक तथ्यों के परिचय से राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के दबाव से और आधुनिक शिक्षा की मानवतावादी दृष्टि के बहुल प्रचार से हमारी पुरानी मान्यताओं में बहुत अन्तर आ गया है। आज से दो सौ वर्ष पहले का सहृदय साहित्य में जिन बातों को बहुत आवश्यक मानता था, उसमें से कई अब उपेक्षनीय हो गयी हैं और जिन बातों को त्याज्य समझता था उनमें से कई अब इतनी अस्पृश्य नहीं मानी जातीं।"[1]

स्पष्ट है कि युग चेतना स्थिर रहने वाला सत्य नहीं है प्रत्येक युग में बदलाव आता है, हर युग के अपने रूप, अपने रंग और अपने विविध आयाम होते हैं जो उसकी चेतना में लक्षित होते हैं। युग चेतना जब साहित्य से अपना सम्बन्ध तोड़ लेती है तो साहित्यिक जगत में जो अराजकता फैलती है उसका कोई हद्दो-हिसाब नहीं रहता। प्रथम तो यह कि समाज की तस्वीर जो रचनाकार प्रस्तुत करना चाहता है, धूमिल हो जाएगी और रचनाकार का मंतव्य ही समाप्त हो जाएगा। वह अपना कोई मत ही स्थापित नहीं कर पाएगा और ना ही रचनाकार की चेतना का आंकलन पाठक को हो पाएगा। साथ ही कौन सी व्यवस्था उचित है और कौन सी अनुचित यह प्रश्न भी अनुत्तरित ही रह जाएगा। अर्जन का उद्देश्य मात्र सर्जन रह जाएगा। उसकी रचनाधर्मिता बीते हुए समय का स्थूल ब्यौरा बनकर रह जाएगा, जिसकी पाठक के लिए, समाज के लिए कोई उपयोगिता नहीं होगी क्योंकि रचनाकार की साहित्यिक अभिव्यक्ति साधारणजन अपने अनुभवों से भलीभाँति ग्रहण कर चुका होगा। साहित्य केवल गत की ही नहीं आगत की सम्भावनाओं पर भी विचार करता

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी - विचार और वितर्क, पृ.- 101.

है । वर्तमान की अर्थवत्ता प्रामाणिकता, तार्किकता का विवरण करती है तभी उसकी साथकता है और यह सार्थकता बिना युग बोध को अंगीकार किए नहीं आ सकती । युग चेतना का विकास ऐसे ही नहीं हो जाता बल्कि व्यक्ति उस समय की परिस्थितियों के सन्दर्भ में उस युग के जीवन मूल्यों, नैतिक मान-दण्डों, जीवन व्यापी सत्यों, सम्पर्कों एवं सामाजिक सम्बन्धों का मूल्यांकन करता है, विश्लेषण करता है, चिन्तन मनन करता है तभी उसकी युगचेतनानुसार नवीन सन्दर्भ, नवीन मूल्य, नवीन सम्बन्ध, नवीन चेतना का विकास हो पाता है । अभी तक रचे गये साहित्य का सारांश अपने शब्दों में प्रस्तुत करना साहित्यकार का उद्देश्य नहीं होता वरन अपनी समझ, बोध, चेतनानुसार युग की मांगों, मूल्यों की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करना होता है। युग की सापेक्षता में ही नयेपन की सफलता की सम्भावना या असम्भावना पर विचार करना होता है ।

युग चेतना से यह भी तात्पर्य है कि वह चेतना जो युग की प्रसव वेदना से सृजित होती है । पिछले युग की सापेक्षता में वर्तमान युग का मूल्यांकन किया जाए तो स्पष्ट होगा कि वर्तमान युग पिछले युग की चेतना से भिन्न कतई नयी चेतना के साथ अपना जुड़ाव किए हुए है । पिछले युग की चेतना धर्म प्रेरित थी । पहले व्यक्ति इस सृष्टि का मूल कारण ईश्वर को मानकर प्रवृत्ति, विकास, प्राकृतिक प्रकोप, विपदाएं-आपदाएं सभी कुछ ईश्वर प्रेरित मानता था । जहाँ बाढ़ और भूकम्प का कारण भी प्राकृतिक न होकर दैवी प्रकोप माना जाता था वहाँ आधुनिक युग में मार्क्स के जगत के मूल में "मैटर" की अवधारणा तथा डार्विन के विकासवाद की अवधारणा से वर्तमान सोच वैज्ञानिकता को ग्रहण कर चुकी है। अब व्यक्ति ईश्वर नाम की सत्ता को स्वीकारने को तैयार नहीं है बल्कि प्रत्येक घटना या हलचल के पीछे कार्य-कारण सम्बन्ध देखता है। स्पष्ट है कि युग चेतना निरन्तर प्रवाहमान, परिवर्तित होते रहने वाला सत्य है । डॉ० सुभद्रा का वक्तव्य तथ्य को अधिक स्पष्ट

करने में सक्षम है -

"साहित्यकार युग का प्रतिनिधि होता है।युग उसके साहित्य में बोलता प्रतीत होता है।इसका कारण यही है कि साहित्यकार भी एक सामाजिक प्राणी है । उसके जीवन का निर्माण भी उसकी चतुर्मुखी परिस्थितियों के मध्य ही होता है।समाज में सतत परिवर्तन आता रहता है इससे युग सत्य और युग धर्म कभी भी एक समान नहीं रहते । युग सत्य कभी शाश्वत सत्य नहीं है क्योंकि युग सत्य, युगानुरूप परिवर्तित होता चलता है । शाश्वत सत्य के मानदण्ड युग की मांग के अनुसार बदलते है।युग सत्य का निर्णय स्वयं युग की मांग पर निर्भर करता है।प्रत्येक युग का साहित्य तत्कालीन युग सत्य का चित्रण करने के कारण अपने युग की सारभूत चेतना का प्रतीक होता है ।"[1]

विज्ञान के विकास ने मनुष्य की चिन्तन पद्धति, नैतिक - सामाजिक मानदण्डों, मूल्यों व उसकी संस्कृति में आमूल बदलाव ला दिया है।अब उसके सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक विकास के पीछे "अर्थ" का हाथ है, "ईश्वर" का नहीं और यह परिवर्तित हो रही चेतना आज के साहित्य की मूल संवेदना है । आज का साहित्यकार इस युग की संवेदना को महसूसता हुआ उसे अपने मौलिक चिन्तन से नये आयाम देता है परन्तु यदि मूल बुनियाद से कटकर वह किसी चेतना का निर्माण करना चाहता है तो वर्तमान पाठकीय संवेदना उसे ग्रहण करने को तैयार नहीं होती ।

आज का रचनाकार युगबोध से जुड़कर मानव-मुक्ति के लिए अपने साहित्य का सृजन कर रहा है।वह वर्तमान व्यवस्था कुछ व्यक्तियों के खून पर पलने-फूलने वाले कुछ व्यक्तियों के विकास की व्यवस्था को उखाड़ फेंकना चाहता है । समानता की स्थापना की चेष्टा इस युग की चेतना है जिसके लिए लगभग

---

1. डॉ0 सुभद्रा - हिन्दी उपन्यास और परम्परा, पृ.-42.

सभी सृजनकर्मी सृजनरत हैं।अब रचनाकार यदि रीतिकाल की संवेदना लेकर नारी के आलिंगनपाश में भीगे सुखों का वर्णन अपनी चेतना बना ले तो उसे पाठक समुदाय तक पहुंचना मुश्किल हो जाएगा । अत: रचनाकार को अपनी अस्मिता बनाए रखने के लिए भी युग की चेतना से जुड़ना आवश्यक है वरना रचनाकार का सृजनकर्मी अस्तित्व इस बौद्धिक जगत में धूमिल होते समय नहीं लगता । साहित्यकार की तो प्रवृति ही ऐसी है कि जब तक वह युग सत्यों को वाणी देता है तब तक उसे पाठकीय स्नेह, आदर मिलता है।जैसे ही युग की नब्ज को छोड़ता है पाठकीय उपेक्षा का शिकार होता है । रीतिकाल का युगबोध बिहारी सतसई या घनानन्द के सवैयों की रचना की वाहवाही कर सकता है परन्तु वर्तमान युग बोध मनुष्य को राजनैतिक व आर्थिक गुलामी से मुक्त करने का बोध है । अब प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन जीने का हक चाहता है क्योंकि अब उसे शोषण उत्पीड़न की शक्ति की अमानवीय चाल का पता लग गया है ।

जब मनुष्य भाग्यवादी था तब वह अपने शोषण के खिलाफ कोई आवाज नहीं उठा सकता था क्योंकि उसके अनुसार उसकी दयनीय स्थिति का कारण पूर्व जन्मों का फल था।अत: विरोध किसके प्रति ? आज का मानव व्यवस्था की कुटिलता के समक्ष नतमस्तक न होकर उसे पलटने हेतु अपने अधिकारों की मांग करता है । व्यवस्था में परिवर्तन की गुंजाईश नहीं दीखने पर वह विद्रोही बन जाता है, उसका रवैया आक्रामक हो उठता है । अत: आज का रचनाकर्मी इसी बोध को व्यक्त कर रहा है क्योंकि आज का समय ही उसकी रचनाओं की प्रासंगिकता का फैसला कर रहा है । आज का पाठक ही उसकी अस्मिता की पहचान कर रहा है । अत: अपनी युग चेतना से कटकर नहीं चल सकता। यदि युगचेतना की विपरीत धारा में बहने का उसका साहस होता तो "विद्यापति पदावली" जैसी रससिक्त अनेकानेक कृतियों का सृजन क्यों नहीं हो रहा ? "पृथ्वीराज रासो" जैसे महाकाव्य हर युग की चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं

कर सकते । आज का रचनाकार युग बोध के तहत ही शोषक-शोषित सम्बन्धों का वर्गीय दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर विवश है। युग बोध ही वह ताकत है जो उसे दलित, पीड़ित, शोषित मानवता की पक्षधर बना रही है । आज मानव,- मानव के मध्य हो रहे बर्बर अत्याचारों की सच्ची कहानी को झुठलाकर कोई अपना मनचाहा रंगीन साहित्य संसार नहीं रचाता । उसे मानवीय पीड़ा सता रही है। अत: उसका साहित्य युगबोध के दामन में आँख मिचोनी खेलता हुआ अनायास ही हमारे समक्ष उपस्थित होता है ।

(ब) साहित्य में सामाजिक चेतना

सामाजिक चेतना के मायने है, व्यक्ति के मन में अपने जीवन, परिवार, समाज, सभ्यता, संस्कृति एवं इतिहास के प्रति एक स्पष्ट सुनिश्चित अवधारणा का विकास हो । व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के पीछे उसकी बुद्धि व भावना कार्य करती है।उसकी भावात्मकता एवं वैचारिकता का संयोग ही उसे अन्य जीवधारियों से श्रेष्ठ सिद्ध करता है।अत: व्यक्ति की सामाजिक चेतना उसके व्यापक दृष्टिकोण की सूचक है जो अपने क्रियात्मक रूप ग्रहण करने से पूर्व बुद्धिवादिता एवं भाववादिता के संयोग से बनी होती है । रचनाकार चूँकि सामान्य व्यक्ति से अधिक चिन्तनशील होता है, अधिक चिन्तन प्रिय होता है, उसकी मानसिकता अधिक जुझारु होती है, इसलिये उसके लिए प्रत्येक तथ्य, प्रत्येक अवसर, प्रत्येक घटना, प्रत्येक गतिविधि चिन्त्य होती है।अत: रचनाकार कैसी भी रचना की सृजना करे उसमें सामाजिक चेतना का योग अवश्य ही होगा, रचनाकार का वैचारिक क्षेत्र कैसा भी रहा हो वह मनुष्य, समाज, देश, राष्ट्र, अपनी सभ्यता, संस्कृति एवं इतिहास से अलग नहीं होगा । रचनाकार जाने-अनजाने लौट कर अन्तत: इन्हीं मुद्दों पर आ ठहरता है । यह अलग बात है कि सामाजिक चेतना स्थाई न होने के कारण उसका स्वरूप हर समय परिवर्तित

होता रहता है। एक समय की सामाजिक चेतना कालगत दूरी के कारण पर्याप्त परिवर्तित हो जाती है। "हैवर्ड फास्ट" लिखते हैं -

"जो कविता कभी महान समझी जाती थी, वह आज केवल अच्छी समझी जाती है और आज से बीस अथवा पचास वर्ष बाद उसकी क्या स्थिति होगी कोई कह नहीं सकता ।"[1]

हम देखते हैं कि हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में किशोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम शर्मा व गंगा प्रसाद गुप्त आदि उपन्यासकारों ने सामाजिक चेतना के नाम पर पर्दा प्रथा, वैधव्य समर्थन, बाल विवाह, बहु-विवाह, सम्मिलित कुटुम्ब का समर्थन किया तथा अन्तर्जातिय विवाह, नारी शिक्षा तथा नारी स्वातन्त्र्य का कड़ा विरोध किया । सामाजिक चेतना में समयानुसार परिवर्तन आया । प्रेमचन्द कालीन उपन्यासकारों की सामाजिक चेतना अपने से पूर्वगामी चेतना से बिल्कुल भिन्न रास्ता अपना लेती है । तत्कालीन सभी उपन्यासकार नारी शिक्षा, अन्तर्जातिय विवाह, नारी स्वातंत्र्य के समर्थन में साहित्य सृजन करते हैं।पर्दा प्रथा, अनमेल विवाह, बहुविवाह, बाल-विवाह का घोर विरोध किया है।इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक युग की सामाजिक चेतना कालान्तर में विभिन्न मूल्यों को ग्राहण और त्यागने की प्रक्रिया में अपना दूसरा रास्ता खोज लेती है परन्तु यह भी सत्य है कि एक समय की सामाजिक चेतना आगामी समय में भले ही रूढ़ि बन जाए फिर भी समय विशेष की सामाजिक चेतना के सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता ।

सामाजिक चेतना के तहत् रचनाकारों ने नारी की स्थिति, उसके व्यक्तिगत स्वतन्त्र विकास, नारी शिक्षा आदि पर विचार किया । वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, छुआछूत, अस्पृश्यता आदि भी सामाजिक चेतना

---

1. हैवर्ड फास्ट - लिटरेचर एण्ड रियलिटी, पृ.-12.

के प्रश्न रहे । लगभग सभी रचनाकारों ने इन प्रश्नों पर अपनी लेखनी का सदुपयोग किया । प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना नारी, जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, छुआछूत, मध्यवर्गीय ढोंग, किसानों की सामाजिक आस्था, विश्वास आदि को लेकर अभिव्यक्त हुई है तो धीरे-2 पूँजीवाद के उदय के कारण आगामी रचनाकारों की सामाजिक चेतना में कुछ नये प्रश्न स्वत: ही जुड़ गये । जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी की सामाजिक चेतना शहरी पात्रों की घुटन, कुंठा, काम प्रेम सम्बन्धों की वैधता और अवैधता के झूले में झूलती है तो स्वतन्त्रता के पश्चात के रचनाकारों ने अपने उपन्यासों में नारी स्वाधीनता एकाकी परिवार, नारी के घरेलू व अर्थोपार्जन के दोहरे मूल्यों को लेकर नारी की राजनीतिक समझ व उसके यौन सम्बन्धों से सम्बन्धित समस्याएँ भी सामने आई । अब मध्यवर्गीय नारी की संकटकालीन स्थिति को भी उजागर किया गया । यशपाल के उपन्यास तो नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता व उसके स्वच्छन्द विकास के समर्थक स्वरों को और अधिक तीव्र करते हैं । अमृतराय भी नारी के अपने चुने हुए रास्ते को सही मानकर उसे तमाम सामन्ती बन्धनों से दूर करना चाहते हैं तो इधर नागार्जुन के उपन्यासों में निम्नवर्ग, मध्यवर्ग की दलित, शोषित सामाजिक अवस्था जहाँ सम्बन्धों का रूढ़िपरक अर्थ स्वत: ही टूट जाता है, आर्थिक विषमता [illegible] सामाजिक सम्बन्धों पर करारी चोट पहुँचाती है । नागार्जुन अपनी पैनी दृष्टि से गहरा विश्लेषण कर लेते हैं तो भैरव जी के समक्ष मध्यवर्गीय नारी की आर्थिक पराधीनता के कारण हुई दयनीय स्थिति, ग्रामीण अनपढ़ नारी के सामाजिक संस्कार, उसकी रूढ़ि-ग्रस्त मानसिकता उसकी सामाजिक समस्याओं के निदान हेतु क्रान्तिकारी ढंग से सोचते हैं, सुधारवादी रास्ते की वहाँ कोई गुंजाईश उन्हें नजर नहीं आती यद्यपि भैरव जी के अधिकांश उपन्यास राजनैतिक चेतना की पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं, परन्तु आधार समाज होने के कारण सामाजिक चेतना तो स्थान-स्थान पर स्वत: ही व्यक्त होती गई है। "आग और आँसू" उपन्यास तो नारी को

सामन्ती बेड़ियो से उन्मुक्त करने का दस्तावेज ही बनकर आता है तो "रम्भा" और "कालिन्दी" में भी नारी के प्रति वस्तुवादी दृष्टिकोण के खिलाफ एक सामाजिक बगावत करके रचनाकार ने उच्चवर्ग एवं मध्यवर्ग की अनैतिकता से चवनिका उठाने का जोरदार प्रयास किया है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रचनाकारों की प्रत्येक रचना सामाजिक चेतना को मुखरित करने का भरसक प्रयत्न कर रही है । कालानुसार सामाजिक चेतना के स्वरूपों व आयामों में परिवर्तन होते रहे हैं परन्तु प्रत्येक रचना अपने स्तर पर अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति में सक्षम है । जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी व अज्ञेय के उपन्यासों पर सामाजिक चेतना की बजाय व्यक्तिगत चेतना की ओर झुकाव का आरोप लगाया जाता है परन्तु इतना स्पष्ट है कि इन रचनाकारों ने काम, कुंठा, सैक्स, मानसिक उन्माद को अपनी रचनाओं का केन्द्र बिन्दु बनाया है। वह परिस्थितियों से उपजा सत्य है, व्यक्तिगत समस्या या एक सीमित वर्ग की समस्या होते हुए भी उसका स्वरूप कहीं न कहीं सामाजिक है क्योंकि उस वर्ग का अस्तित्व भी समाज में ही है । इसलिए इनके उपन्यास भी एक भ्रष्ट उच्चवर्ग, मध्यवर्ग की मानसिक यातनाओं का चित्रण करते हुए भी सामाजिक चेतना सम्पन्न है ।

राजनैतिक चेतना

साहित्य और राजनीति दोनों भिन्न-2 विषय होते हुए भी इस अर्थ में सम्बन्ध रखते हैं कि दोनों सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं । राजनीति जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को संचालित करती है, गति देती है तो साहित्य सामाजिक जीवन की पुर्नअभिव्यक्ति करता है । अतः साहित्य और राजनीति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । समाज जैसे-2 वर्गों में विभक्त हुआ वैसे-2 साहित्य और राजनीति भी प्रभावित हुई तथा अनेकानेक परस्पर

विरोधी विचारधाराएं भी पनपी । ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में जो सामाजिक चेतना उभर रही थी उसके चलते रचनाकारों ने स्वार्थी, बर्बर, अमानवीय राजनीति का विरोध किया । सत्तापक्ष जैसा है वैसी अपनी स्थिति को कायम रखना चाहता है जबकि छलकपट, भ्रष्टाचार, व्यक्तिगत स्वार्थ की नींव में उसकी दीवार खड़ी होती है । सत्तापक्ष के परपीड़नकारी, स्वार्थी भ्रष्ट रवैये को रचनाकार जनहित में परिवर्तित होते हुए देखना चाहता है । परन्तु वर्तमान भारतीय जीवन में राजनीति के स्वार्थी पैंतरे पल-प्रतिपल नये-2 रंग बदलते हैं । राजनीतिक भ्रष्टता ने जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों को आक्रान्त किया है । भ्रष्ट राजनैतिक सत्ता के कारण बेरोजगारी, भुखमरी, मँहगाई, बिजली-पानी की समस्याओं से जन-सामान्य इतना आक्रान्त हो गया है कि उसका हर अगला क्षण मृत्यु का आभास देता है ।

राजनैतिक विद्रूपता के ऐसी विकराल स्थिति में संवेदनशील रचनाकार किस प्रकार की राजनीति का समर्थन करें, कौन सी राजनीति का विरोध करे या जनता में राजनैतिक जागरण की ध्वनि का निनाद करे यह उनका साहित्यिक, नैतिक, सामाजिक व राजनैतिक कर्तव्य बन जाता है।साहित्य और राजनीति के परस्पर सम्बन्धों को विश्लेषित करते हुए "विजयेन्द्र स्नातक" लिखते हैं - "जो श्रेष्ठ साहित्य की मर्यादा से परिचित हैं वे सामाजिक एवं राजनैतिक तत्वों का समावेश साहित्य में करते हैं, उन्से अपनी रचना को व्यापक धरातल देते हैं ।"[1]

प्रेमचन्द, निराला, यशपाल, मुक्तिबोध, अमृतराय, नागार्जुन व भैरवप्रसाद गुप्त का साहित्य दलित, भ्रष्ट कपटी राजनीति की स्वार्थी नीतियों व दुधारी चालों के शिकार विवश असहाय श्रमिकों, मजदूरों व किसानों का

---

1. डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक - विचार के क्षण, पृ॰-13.

रक्तपान करके अपने गालों पर लालिमा लाने वाली अमानवीय नीति से पर्दा उठाया है तथा साथ ही स्वस्थ राजनीति की वकालत की है । प्रेमचन्द अपने लेखन की शुरुआत में गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित थे । गांधीजी के सत्याग्रह, अहिंसावादी नीति, असहयोग आन्दोलन का समर्थन किया परन्तु "गोदान" व "मंगल सूत्र" तक आते-आते रचनाकार की आस्था मार्क्सवाद की तरफ मोड़ ले लेती है। वे शोषक-शोषित का भेद मिटाने वाली व्यवस्था में विश्वास करने लगे जो गांधीवादी सिद्धान्तों से सम्भव नहीं थी । गाँधीवाद के प्रति अनास्था व्यक्त करते हुए प्रेमाश्रम में प्रेमचन्द लिखते हैं -

"सत्याग्रह में अन्याय का दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया है ।"[1]

केवल गांधीवादी सिद्धान्तों के प्रति अनास्था ही नहीं "मंगलसूत्र" तक आते-आते तो वे शोषकों के खिलाफ हथियार उठाकर सामना करने को तैयार हो जाते हैं "मंगलसूत्र" में प्रेमचन्द जी लिखते हैं - "दरिद्रों के बीच उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजो का शिकार बनना दातापन नहीं जड़ता है ।"[2]

प्रेमचन्दोत्तर युग में तो अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अपने को स्वतन्त्र करने का संघर्ष सबसे अहम् मुद्दा था । यह लड़ाई इतना व्यापक स्वरूप ग्रहण करती जा रही थी कि प्रत्येक समुदाय और वर्ग अपने भीतर उस व्यवस्था को उलट कर नवीन व्यवस्था की प्रस्थापना हेतु उबाल महसूस कर रहा था और इसी दौर में रचनाकारों के झुकाव साम्यवादी क्रान्ति से प्रेरित होकर मार्क्सवाद की तरफ बढ़ा । यशपाल, अमृतराय, रांगेय राघव, नागार्जुन व भैरवप्रसाद गुप्त के अधिकांश उपन्यासों में कांग्रेस की कार्यप्रणाली, कांग्रेसी नेताओं के भ्रष्ट

---

1. प्रेमचन्द - प्रेमाश्रम
2. प्रेमचन्द - मंगलसूत्र

आचरण और साम्यवाद की प्रशंसा के गुणगान किए गए हैं ।

यशपाल ने "दादा कामरेड" में "रांगेय राघव" ने "हुजूर" उपन्यास में अंग्रेजी साम्राज्यवाद व उसके पोषक-पूँजीपति, सामन्त जमींदार व पुलिस विभाग के चरित्र को स्पष्ट करते हुए साम्यवादी सिद्धान्तों में विश्वास प्रकट किया है । अमृतराय ने "बीज" और "हाथी के दाँत" उपन्यासों में अंग्रेज की नीतियों व कांग्रेसी नेताओं के स्वार्थी आचरण को आलोचना का विषय बनाते हुए प्रकारान्तर से मार्क्सवाद में आस्था रखी है तो "नागार्जुन" का "बलचनमा" भैरवप्रसाद का "सती मैया का चौरा" का मुन्नी कांग्रेस पार्टी की आलोचना करता हुआ मार्क्सवाद के लिए अपनी कटिबद्धता को स्पष्ट करते हुए कहता है - "हमारे देश में कम्युनिज्म आ जाए तो कितना अच्छा हो ... उत्पादन के सभी साधनों पर राष्ट्र अपना अधिकार प्राप्त करके पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों तथा उपभोक्ताओं का शोषण समाप्त कर दे तो गरीबी-अमीरी का सवाल ही क्यों पैदा हो ।"[1]

सांस्कृतिक चेतना

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारतीय संस्कृति परम्परागत मान्यताओं, रूढ़ियों व धार्मिक अन्ध जाल में उलझी हुई थी । जीवन के प्रति विज्ञानवादी दृष्टिकोण के अभाव के कारण जीवन को संचालित करने वाला प्रमुख तत्त्व धर्म था । शिक्षा पर भी धार्मिक प्रभाव ने नये क्रान्तिकारी विचारों के लिए दरवाजे बन्द कर दिए थे परन्तु अंग्रेजों के आगमन के साथ ही भारत में उद्योगीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गई । ईसाई मिशनरियों ने भारतीय धर्म के अन्धविश्वासों, कुरीतियों पर प्रहार किया । उद्योगीकरण की प्रक्रिया, अधुनातन वैज्ञानिक सुविधाएं व ईसाई मिशनरियों का भारतीय धर्म पर प्रहार तथा पाश्चात्य रहन-सहन के तरीके ने भारतीय संस्कृति में आमूल परिवर्तन

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ॰-528.

किए जिससे जनता में जागरण की लहर फैली । एक तरफ शिक्षा के प्रसार ने नवयुवकों में विज्ञानवादी दृष्टिकोण का विकास किया जिसने हिन्दू धर्म की कट्टरता के निवारण में सराहनीय भूमिका निभाई दूसरी तरफ उद्योगीकरण के परिणामस्वरूप बड़े-बड़े कल कारखाने, फैक्टरियों की स्थापना होने से ग्रामीण भूमिहीन किसान शहरों में रोजगार की तलाश में आने लगे जिससे ग्रामीण पुरातन मान्यताओं पर शहरी प्रभाव के कारण संयुक्त परिवार प्रथा, पर्दा प्रथा कम होने लगी । बेकारों को रोजगार की आवश्यकता ने व मिल मालिकों को श्रमिकों की जरूरत ने जाति-पांति छुआछूत के प्रश्न को कतई गौण बना दिया । भूखे पेट के समक्ष रोटी का प्रश्न अहम था तो मिल-मालिक के समक्ष अधिक धन बटोरने का । नारी के शैक्षणिक जीवन के शुभारम्भ से बाल-विवाह, सती प्रथा, पर्दा प्रथा कम होने लगी । भारतीय जन-मानस अपनी कूँए के मेढ़क की समझ के संकीर्णवाद से निकलकर जादू, टोने-टोटके आदि विश्वासों की कड़ी को तोड़कर वैज्ञानिक चिन्तन का उन्मेष करने लगा । अब उसके समक्ष मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जगत के मूल में "मैटर" था, ईश्वर नहीं । फ्रायड की मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली थी, भूत-प्रेत नहीं ।

अत: भारतीय जीवन की मानसिकता में परिवर्तन आने से उनकी संस्कृति में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा । साहित्यकारों ने परिवर्तित सांस्कृतिक चेतना का चित्रण अपने साहित्य में यत्र-तत्र किया है । रीतिकाल जहाँ अपनी समग्रता में नारी के प्रति भोगवादी दृष्टिकोण का परिचायक है उस काल की नारी सौन्दर्य की प्रतिमा मात्र है, उसके अंग-उपांगो का उभार रसिकों में कामभावना का स्फुरण करता है परन्तु हम देखते हैं नारी के प्रति यह भोगपरक दृष्टिकोण आगे जाकर परिवर्तित होता है । बदल रही सांस्कृतिक चेतना ने नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व की धारणा की पुष्टि की तो प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस धारणा की पुष्टि के समर्थन में स्वर बुलन्द हुए हैं । धर्म का प्रभाव जीवन से घटता जा रहा था । मार्क्स की धर्म को "अफीम"

की दी गई संज्ञा भी जनता की समझ में आने लगी । प्रेमचन्दोतर उपन्यासों में नारी, शिक्षा, समाज, स्वतन्त्र विकास, धर्म के प्रति नकारवादी दृष्टि-कोण, शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने के प्रश्न मुख्य बन गए । अब व्यक्ति के लिए इहलौकिक प्रधान बना पारलौकिक पक्ष गौण । जीवन का संचालक अर्थ बना, धार्मिक पक्ष गौण ।

आर्थिक चेतना

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारतीय आर्थिक ढाँचा आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन एवं वस्तु विनिमय की प्रणाली पर आधारित था परन्तु अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों से भारतीय ग्राम्य व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई । भारत से कच्चा माल इंग्लैंड जाकर निर्मित माल भारत में ही आयात किया जाता था । मशीनीकृत सुन्दर एवं परिष्कृत वस्तुएं अपनी सुन्दरता एवं सस्तेपन के कारण भारतीय बाजार में बहुतायत से क्रय की जाती थी फलत: भारतीय पूँजी बाहर जाने लगी एवं भारतीय कारीगर बेरोजगार हो गए । यहीं से भारत के आर्थिक पतन की कहानी आरम्भ होती है। विदेशी मशीनीकृत माल की परिष्कृतता एवं कम खर्चीलेपन ने कुटीर उद्योग को समाप्तप्राय करके कारीगरों को शहर में सस्ते श्रम पर बिकने के लिए विवश कर दिया । जमींदारों द्वारा बेगार श्रम लेने की मार एवं सरकारी ऋण न चुका पाने के कारण भूमिहीन किसान रोजी-रोटी की तलाश में शहरों में जाकर मजदूर बन गए । अब पूँजी-पतियों के हाथों श्रमिकों का मनमाना दोहन होने लगा। इस समय न केवल किसान, मजदूर ही शोषित थे अपितु मध्यवर्ग की हालात भी इनसे बेहतर न थी क्योंकि मध्यवर्ग शिक्षित बेरोजगारी के कारण दोहरी मार सह रहा था ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात यद्यपि जमींदारी उन्मूलन से किसानों की समस्याओं का एक हद तक हल किया गया साथ ही मजदूरों के लिए कार्य

के घंटे एवं वेतन निश्चित करके उन्हें भी जीने के हक प्रदान करने की शुरुआत की गई । परन्तु ये सुधार व्यावहारिक रूप से कम कागजी रूप से अधिक सफल हुए क्योंकि जमींदारी उन्मूलन से पूर्व ही जमींदारों ने अपने पुराने ठाठ कायम रखने के लिए बहुत सी भूमि को पटवारी, कानूनगो को पाँच-दस का लालच देकर अपने कब्जे में कर लिया था तथा अपना वही पुराना सामन्ती रोब-दाब कायम किए हुए थे । किसानों मजदूरों एवं मध्यवर्ग के शोषित जीवन को लेकर हिन्दी उपन्यासकारों ने बहुत मार्मिक रचनाएं जनता के समक्ष पेश की हैं । रूस की क्रान्ति के पश्चात भारत में साम्यवाद के प्रचार के कारण भारतीय रचनाकारों पर वाम विचारधारा का काफी प्रभाव पड़ा । उपन्यासकारों ने अब किसानों, मजदूरों के बेहतर हालात के लिए संगठन बनाने पर अधिक जोर डाला, वर्गीय चेतना का निनाद किया, शोषक-शोषित सम्बन्धों का खुलासा करती हुई कड़कती हुई रचनाएं लोगों के सामने आई जिनमें शोषण का कारण "धर्म" या "भाग्य" को न मानकर धन के सीमित लोगों में एकत्रीकरण को माना गया ।

इस प्रकार उपन्यासकारों का उद्देश्य जन-संगठन बनाकर किसानों, मजदूरों के शोषण के खिलाफ विद्रोही चेतना से जनता को ओत-प्रोत करना है । प्रेमचन्द अपने जीवन के अन्तिम चरण में वर्ग संघर्ष की बात करते हैं तो "रांगेय राघव", "राहुल सांकृत्यायन" वर्ग चेतना एवं वर्ग संघर्ष को ही मानव मुक्ति का एकमात्र अस्त्र मानते हैं । "अमृतराय" तो साम्यवाद के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यवस्था को अन्तिम नहीं मानते । इधर "नागार्जुन" का "बलचनमा" शोषित, पीड़ित किसानों के जुझारु संगठनों का निर्माण करके जमींदारों से लोहा लेने का मंत्र फूंकता है यद्यपि उसे पूर्ण सफलता नहीं मिलती परन्तु "भैरवप्रसाद" के "गंगा मैया" का "मटरू" तो किसानों के संगठन बनाकर जमींदारों के बढ़े हुए हाथों को एकबारगी काट ही देता है और संगठन में शक्ति का आह्वान कर शोषक ताकतों के खिलाफ अपना जेहाद जारी रखता है ।

****

अध्याय - तीन

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यासों का स्थान

अध्याय - तीन

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों का स्थान

हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय साहित्य की परम्परा का आरम्भ भारतेन्दु युगीन साहित्य से माना जाता है । ब्रिटिश उपनिवेशवाद जनित कष्टों के प्रति आक्रोश, व्यंग्य भारतेन्दु मंडल के लेखकों मे दृष्टव्य है । प्रेमचन्द का साहित्यिक संसार इसी साहित्यिक परिवेश, रूसी क्रान्ति, भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन के मध्य पनपने और विकसित होने वाला सत्य है । रूसी क्रान्ति का भारतीय साहित्य पर अमिट प्रभाव पड़ा । 1920 के आस-पास ही हिन्दी साहित्य में शोषण के प्रति विरोध, श्रमशील जनता के प्रति सहानुभूति तथा वर्ग चेतना के स्वर प्रस्फुटित होने लगे थे । हिन्दी साहित्य के अग्रणी रचनाकारों में प्रेमचन्द ऐसे रचनाकार ठहरते हैं जिनमें भारतीय आवाम, जिसमें से कृषक वर्ग के जीवन के विविध सरोकारों पर व्यापक नजर डाली । उनके संघर्ष, उनकी श्रमशीलता, उनकी चेतना तथा साम्राज्यवाद एवं सामन्त विरोधी चेतना उनकी रचनाओं का मुख्य केन्द्र रहीं । प्रेमचन्द जिस समय साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण करते हैं, विश्व जनमत को साम्राज्यवाद विरोधी

पाते हैं । अत: प्रेमचन्द के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वे भी साम्राज्यवाद विरोधी रुख ग्राहण करें । विश्व साम्राज्यवाद के विरुद्ध किसान-मजदूरों का संघर्ष काफी जोर पर था अत: प्रेमचन्द ने अपने सम्पूर्ण साहित्य में किसान-मजदूर दलित अथवा श्रमशील जनता के बुनियादी प्रश्नों को अपने साहित्य का केन्द्र बिन्दु बनाया ।

प्रेमचन्द जी का आरम्भिक रचना-संसार गाँधीवादी दर्शन से प्रभावित है । "रंगभूमि" उपन्यास का "सूरदास" महात्मा गांधी के विचारों का सच्चा प्रतिनिधि बनकर आता है । महात्मा गांधी के सत्याग्रह, अहिंसा और प्रेम इत्यादि सूत्रों का प्रेमचन्द पर अमिट प्रभाव पड़ा था । "रंगभूमि" का पात्र "सूरदास" अहिंसात्मक सत्याग्राह से चालित होता है । 1933 में जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन का जोर बढ़ा और पुलिस विभाग दलित किसानों पर जुल्म ढा रही थी, न केवल पुरुष अपितु हिन्दू तथा मुस्लिम नारियों पर कहर बरपा, तब प्रेमचन्द जी नागरिकों को कर्म करने की प्रेरणा देने हेतु "कर्मभूमि" की रचना करते हैं । परन्तु हम देख सकते हैं कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन के पश्चात प्रेमचन्द जी का विश्वास गांधीवाद से समाप्तप्राय: हो जाता है।वे इस तथ्य को बहुत गहरे महसूसते हैं कि कांग्रेस जोरशुदा लोगों के भरे हुए पेट को ही भर सकने की सामर्थ्य रखती है । होरी, धनिया, गोबर, सिलिया आदि को न्याय पाने का हक वहाँ नहीं है।अत: उनका गांधीवाद का साथ बहुत दूर तक नहीं चल पाता । गांधीजी जहाँ वर्ग-समन्वय की बात करते हैं, प्रेमचन्द वर्ग-संघर्ष के कायल हो जाते हैं । गांधीजी नहीं चाहते थे कि किसानों-मजदूरों की हितरक्षा हेतु पूँजीपति - जमींदारों के अनैतिक रूप से हथियाये अधिकारों को छीनना होगा, जबकि प्रेमचन्द इस अनैतिक ताकत वाले वर्ग के खात्मे से ही श्रमशील जनता के जीने की सम्भावना में आस्था रखते थे । यहाँ गांधीवाद प्रेमचन्द जी से छूटता नजर आता है । "गोदान" और "मंगलसूत्र" उनके वैचारिक बदलाव के सूचक उपन्यास हैं, यहाँ तक पहुँचने में उन्हें

निश्चित रूप से लम्बा समय लगा, तमाम संघर्ष झेले गये और अन्ततः वे समाजवादी चिन्तन को अपना लेते हैं । "गोदान" व "मंगलसूत्र" के प्रेमचन्द "कर्मभूमि," "रंगभूमि" के सुधारवादी प्रेमचन्द को विस्मृत कर क्रांतिकारी प्रेमचन्द बन जाते हैं । राजनैतिक दृष्टिकोण में बदलाव आते ही वे साम्यवादी क्रांति के समर्थक हो जाते हैं । 1934 में डॉ0 "इन्द्रनाथ मदान" को लिखे गये एक पत्र में गांधीवादी प्रेमचन्द लिखते हैं -

"मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ ··· क्रान्ति ज्यादा समझदार उपायों की असफलता का नाम है ··· कहना संदेहास्पद है कि क्रांति से हम कहाँ पहुँचेंगे । यह हो सकता है कि हम उसके जरिये और भी बुरी डिक्टेटरशिप में पहुँचें जिनमें रंचमात्र भी व्यक्ति-स्वाधीनता न हो ।"

हम देखते हैं कि आरम्भ के गांधीवादी प्रेमचन्द ध्वंस को अस्वीकारने वाले अहिंसावादी प्रेमचन्द अन्त में जाते-2 किस तरह सशस्त्र क्रांति के समर्थक हो जाते हैं । "मंगलसूत्र" तो इसका निर्विवाद उदाहरण है ही, 1933 से 1936 तक के "हंस" और "जागरण" के अंकों का अध्ययन करके भी हम अपने मत की पुष्टि पा सकते हैं । 28 जनवरी 1934 के "जागरण" के अंक में वे साम्यवादी विचारधारा का समर्थन करते हुए अपना वक्तव्य देते हैं -

"साम्यवाद का विरोध वही तो करता है जो दूसरों से ज्यादा सुख भोगना चाहता है, जो दूसरों को अपने आधीन रखना चाहता है, जो अपने को भी दूसरों के बराबर समझता है ··· जो समदर्शी है उसे साम्यवाद से विरोध क्यों होने लगा ?"[1]

स्पष्ट है कि अपने जीवन के व अपनी रचनाओं के अन्तिम समय में प्रेमचन्द रूसी प्रभाववश शोषक व शोषित के सम्बन्धों को अधिक अभिव्यक्त करते

---

1. 28 जनवरी, 1934 की "जागरण" पत्रिका के अंक से ।

हैं।इन सम्बन्धों को वे वर्गीय दृष्टिकोण से देखते हैं।वे किसानों के दुश्मन जमींदार, महाजन, पंचायत व पुलिस सभी का पुरजोर विरोध करते हैं । "गोदान" व "मंगलसूत्र" में प्रेमचन्द ने शोषक व शोषित दोनों वर्गों में स्पष्ट भेद उजागर करते हुए दोनों की परस्पर विरोधी नैतिकता पर खुलकर लिखा है।उनकी लेखनी रचनाकार की वर्गीय आस्था को स्पष्ट करती है।वे श्रमशील जुझारु व सहनशील मेहनतकशों के साथ हैं, उनकी आवाज बुलन्द करना उनके रचनाधर्म का मकसद बन जाता है । वहाँ कोई विवाद की गुंजाईश नहीं रहती । इस सम्बन्ध में "शिवकुमार मिश्र" के विचार दृष्टव्य हैं -

"मंगलसूत्र तक पहुँचते-2 वे दरिन्दों के खिलाफ हथियार उठाने की बात भी करते हैं जो "गोदान" के बाद निश्चित रूप से एक बहुत आगे बढ़ा हुआ कदम है ।"[1]

प्रेमचन्द जी यातना ग्रस्त मनुष्य के प्रति जितने संवेदनशील हैं, यातना के जन्म-दाता के प्रति उनका आक्रोश उतना ही भयानक । उनकी इस संवेदनात्मकता और आक्रोश की भयानकता के सन्दर्भ में ही हम उनकी लेखनी की महानता या उनके व्यक्तित्व के बड़प्पन को महसूस सकते हैं, आँक सकते हैं ।

प्रेमचन्द जी के यहाँ शोषित जनों में केवल मजदूर या किसान ही नहीं आते, वे नारी को शोषिता मानते हैं, न केवल निम्नवर्गीय नारी अपितु मध्यमवर्गीय नारी की समस्याओं पर भी उन्होंने बहुत लिखा है । "सेवासदन," "गबन" और "निर्मला" नारी चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं । दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, वेश्यावृत्ति इत्यादि सामाजिक कलंक "सुमन" और "निर्मला" को बर्बाद होने के लिए छोड़ देते हैं।उनकी नारी पात्र सामाजिक पीड़ा, यंत्रणा व विद्रूपताओं के मध्य व्यक्तित्व का दमन होते हुए देखती हैं ।

---

1. सं0 कुंवरपाल और सव्यसांची - प्रेमचन्द और जनवादी साहित्य की परम्परा, पृ॰- 53.

"सेवासदन" में गरीबी के कारण, दहेज न जुटा पाने की क्षमता के कारण "सुमन" का विवाह वृद्ध गजाधर से होता है । यंत्रणा की परिसीमा यही नहीं है बल्कि जब वृद्ध गजाधर ही सुमन के चरित्र पर शक करने लगता है, तथा उसी समाज में भोली नामक वेश्या तथाकथित सामाजिक ठेकेदारों द्वारा जब सम्मानित होती है, तब प्रतिक्रियावश "सुमन" वेश्या बनने पर मजबूर होती है। एक औरत जो मूल में निर्दोष है इस दम्भी समाज में यही परिणति है उसकी । प्रेमचन्द जी ने कोई क्रान्तिकारी समाधान तो प्रस्तुत नहीं किया क्योंकि उस समय तक वे सर्वहारा चिन्तन से प्रभाव अवश्य ग्रहण कर रहे थे परन्तु उनकी रचनाओं में ये स्वर बुलन्दगी प्राप्त नहीं कर पाए ।

मध्यवर्गीय सामाजिक स्थिति व उनका अस्तित्व और उनकी मानसिकता के विविध आयामों का गुम्फन हम "गबन" उपन्यास में देखते हैं । "जालपा" और "रमानाथ" जो कुछ सोचते हैं या जो कुछ करते हैं वे अपनी वर्गीय समझ के मुताबिक ही करते हैं । मध्यवर्गीय नारी की आकांक्षाएं नारी-पुरुष का परस्पर सम्बन्ध, आर्थिक टूटन और जुड़ाव के मध्य उनकी मानसिकता में आते-जाते परिवर्तनों का बड़ा सुष्ठु रूप "गबन" में मिलता है । अत: स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने अधिकांशत: अपने उपन्यासों में किसान-जमींदार संघर्ष को चित्रित किया है । प्रेमचन्द युगीन कृषक प्रत्यक्षत: जमींदारों से तथा परोक्ष रूप मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष कर रहे थे, उन्हीं की अभिव्यक्ति "रंगभूमि," "कर्मभूमि," "कायाकल्प" तथा "गोदान" में है । डॉ० "रामनारायण" अपना वक्तव्य देते हुए लिखते हैं -

"प्रेमचन्द के उपन्यास भारतीय जमींदारों की दलाली के प्रामाणिक दस्तावेज हैं । "कायाकल्प" के "विशालसिंह" "रंगभूमि" के राजा महेन्द्र प्रताप "कर्मभूमि" के महन्त और "गोदान" के राय अमरपाल सिंह आदि सबके सब सचमुच निरे दलाल हैं ।"[1]

---

1. डॉ० रामनारायण शुक्ल - जनवादी साहित्य और समझ.

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द जी हिन्दी साहित्य के प्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने भारतीय समाज की वास्तविकता को बहुत गहरे पैठकर देखा, महसूसा । उनका समाज वह समाज था जो रूढ़ियों से जर्जरित था, अत्याचारों से आक्रान्त था, दु:खी था, दुर्बल, असहाय, निरुपाय था । जनजागरण की ध्वनि को अनसुनी किए अपनी ही सुर में जीने वाला समाज ही उनका समाज था । प्रत्येक उपन्यास में हम किसी भी तत्कालीन समस्या का स्वरूप तथा हल देख सकते हैं । "रंगभूमि" में भारतीय ग्रामीणों के नित्य झेले जा रहे संघर्षों की कहानी "प्रेमाश्रम" में तो प्रेमचन्द जी के आदर्शों के स्वप्निल संसार की स्थापना ही हो जाती है जब प्रेम शंकर के साथ अनेक युवक अपना रंगारंग विलासी जीवन छोड़कर "प्रेमाश्रम" में सेवाभाव से कार्य करने में जुट जाते हैं । "कायाकल्प" में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का सुलझाव, "निर्मला" में अनमेल विवाह तथा विधुर परिणय, "कर्मभूमि" में राष्ट्रीय संग्राम में लड़ने वाले साहसी पुरुषों व स्त्रियों की आदर्श कहानी और "गोदान" में समाप्त होते हुए सामंतवाद तथा उदित हो रहे पूँजीवाद की कथा है ।

निष्कर्ष यह है कि प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में तत्कालीन भारत की तमाम समस्याओं को अभिव्यक्ति दी है । वे समस्याएं जिनसे तत्कालीन भारतीय जनमानस जूझ रहा था और बहुत कुछ वे समस्याएं आज भी जीवित हैं, इसलिए उनके उपन्यासों का महत्व अधिक बढ़ जाता है । अब देखना यह है कि प्रेमचन्द के पश्चात उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के तेवरों में क्या-क्या परिवर्तन किए, युगानुसार कितना कुछ ग्रहण कर पाए, प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा को अपनाते हुए समकालीन जीवन में कितनी पैठ बरकरार रखी या प्रेमचन्द के पश्चात उपन्यासों की बिल्कुल ही बदलती धारा के क्या-क्या कारण रहे, वह धारा कितनी तर्क संगत है ? इन्हीं सवालों का विस्तृत विवेचन यहाँ मुनासिब है ।

प्रेमचन्द के पश्चात बहुत कुछ वे ही समस्याएं अपने मूलवर्ती तेवरों मे अधिक सामयिक सन्दर्भ लेकर विकसित हुई । विवेच्यकाल में उपन्यासों के सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक एवं राजनैतिक तथा राष्ट्रीय चेतना के स्वर मुख्य रहे । आलोच्यावधि में सामाजिक उपन्यासकारों की एक लम्बी श्रृंखला है जिनमें सियारामशरण गुप्त, रांगेय राघव व उपेन्द्रनाथ "अश्क" मुख्य हैं । इनके उपन्यासों में समाज की तमाम समस्याओं जाति-पांति, अन्ध-विश्वास, अछूतोद्धार, तलाक, वैधव्य, पदाप्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह के अतिरिक्त कृषकों के शोषण को वाणी दी गई । ऐतिहासिक उपन्यासों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री, जयशंकर प्रसाद, रांगेय राघव मुख्य रहे । मनो-वैज्ञानिक उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी, भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र तथा अज्ञेय मुख्य रहे । राजनैतिक व राष्ट्रीय चेतना प्रधान उपन्यासकारों में मन्मथनाथ गुप्त, मोहनलाल महतो, यशपाल, रामेश्वर शुक्ल अंचल, भगवती चरण वर्मा, गुरुदत्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी, "निराला" आदि मुख्य रहे । यथार्थवादी उपन्यासकारों की समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासकार व सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासकार ये दो श्रेणियाँ बनी । सामाजिक यथार्थ-वादी उपन्यासकारों में उपेन्द्रनाथ "अश्क," अमृतलाल नागर व फणीश्वरनाथ रेणु मुख्य हैं । समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासकारों में यशपाल, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, अमृतराय, नागार्जुन, राजेन्द्र यादव व स्वयं भैरव प्रसाद गुप्त शीर्षस्थ हैं । इन सभी उपन्यासकारों में सामाजिक नूतन मानदण्डों की प्रस्थापना तथा प्राचीन रूढ़ जर्जर मूल्यों को निर्मूल सिद्ध करने का प्रयास काफी उत्साहप्रद रहा ।

प्रेमचन्द के तुरन्त पश्चात साहित्य जगत में जैनेन्द्र इलाचन्द्र जोशी व अज्ञेय छा गए । इनका यथार्थ प्रेमचन्द के यथार्थ से कतई भिन्न था । कुछ लोग जैनेन्द्र को प्रेमचन्द की परम्परा से जोड़कर देखते हैं जबकि यह विचार बिल्कुल मिथ्या है क्योंकि प्रेमचन्द जहाँ व्यक्ति से समाज की ओर गए जैनेन्द्र

के यहाँ व्यक्ति ही मुख्य है । इस सम्बन्ध में कांतिवर्मा के विचार बहुत सटीक है -

"प्रेमचन्द अपने पात्रों को सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर ही उनके आन्तरिक संघर्षों का चित्रण करते हैं, उन्हें कभी भी एकांत में अनावृत कर सामाजिकता से भिन्न किसी प्रकार का निजत्व प्रदान नहीं करते । उनके पात्रों का व्यक्तित्व सामाजिकता में रहता है, जैनेन्द्र का मनोविज्ञान गोपनीयता का है ।"[1]

यथार्थवादी रचनाकारों का जो मनुष्य की सम्पन्नता का मापदण्ड था, जैनेन्द्र के यहाँ आकर वह लगभग खंडित हो जाता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने फ्रायड, एलर एवं युग के विश्लेषण को आधार मानकर कुछ गिने-चुने पात्रों की मानसिक यंत्रणा का ही विश्लेषण किया है।समस्याओं का अंकन वर्गीय दृष्टिकोण से करने का उनका स्वभाव ही नहीं रहा । समस्याओं के मसीहा की तरफ उनकी नजर ही नहीं ठहरती । वे तो मानसिक यंत्रणा, कुंठा, विकृतियों को दार्शनिक पीठिका पर सुलझाते हैं। भारत का एक बहुत बड़ा वर्ग जहाँ रोटी-पानी, अकाल-बाढ की समस्याओं से आक्रान्त है वहाँ इन मानसिक संत्रास व कुंठा का स्वरूप आभिजात्यतापूर्ण अवश्य आभासित होता है । डॉ० "विजय कुलश्रेष्ठ" ने बहुत सही लिखा है -

"इनके उपन्यासों में मनोविश्लेषण का इतना प्रभाव है कि पात्रों के आन्तरिक जगत के उद्घाटन में उनकी मनोराग प्रधानता, आन्तरिक संघर्ष, अनास्था, व कुंठा व यौन स्थितियों से व्यक्तित्व की प्रतिमा ही भंग हो गयी है ।"[2]

जैनेन्द्र जी की एक पात्र "सुनीता" जो विवाहित होते हुए भी एक कुंठित, भटके हुए व्यक्ति में मानवीयता जगाने का प्रयास करती है वह उस पर-

---

1. कान्ति वर्मा - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ०-25.
2. डॉ० विजय कुलश्रेष्ठ - जैनेन्द्र उपन्यास और कला, पृ०-31.

पुरुष के साथ समय व्यतीत करती है तथा अपने पति से भी आदर पाती है । हम देखते हैं कि प्रेमचन्दोत्तर नैतिक मापदण्ड काफी परिवर्तित हुए हैं । प्रेमचन्द जी की "निर्मला" व "सुमन" तो मात्र अपने पति तक समर्पिता होते हुए भी पुरुषत्व के अहंकारी पुरुष द्वारा प्रताड़ित होती हैं परन्तु जैनेन्द्र जी की नारी पात्र अपने घरेलू संकीर्ण दायरे को पछाड़कर अपने व्यक्तित्व का उन्मुक्त विकास करती है उनकी मानसिक हलचल, उतार-चढ़ाव का सूक्ष्म वर्णन जैनेन्द्र जी करते हैं । "कल्याणी" में अपने पति द्वारा अपमानित होकर नायिका अपने पति से चाहकर भी सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर पाती । वह तनाव, मानसिक यातना की शिकार बनी रहती है । "मृणाल" की बुआ पति से तो अपमानित होती ही है रिश्तों का हल्कापन उसे पीहर में भी आश्रय नहीं दे पाता तो विवश बुआ एक व्यापारी के साथ घर छोड़ भाग जाती है । इस प्रकार जैनेन्द्र जी की नारी पुरातन मान्यताओं, रुढ़ियों के प्रति विद्रोही भाव रखते हुए करारा जवाब देती है । वे प्रेमचन्द जी की नारी पात्रों की भांति कहीं भी स्वयं को असहाय, निरुपाय या विवश महसूस नहीं करती ।

जैनेन्द्र जी अपने सभी उपन्यासों में नारी को एक ऐसा व्यक्तित्व प्रदान करते हैं जहाँ वह अपने विकास के लिए उन्मुक्त है, घरेलू दबावों से मुक्त है । वे शारीरिक स्तर पर जहाँ चाहे उपभोग के लिए भी स्वतन्त्र है । पति के रूप में पुरुष कभी भी इन पर हावी नहीं होता । यद्यपि जैनेन्द्र जी की शैली पाठकों में अन्दर तक झन्कार पैदा कर देती है परन्तु इतना स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने जिन व्यापक समस्याओं का स्वरूप मुखरित किया, जो समस्याएं प्रत्येक व्यक्ति झेल रहा था, जैनेन्द्र ने उस व्यक्ति-2 की धड़कन को नकार कर कुछ ऐसे व्यक्तियों की समस्या को चित्रित किया जिनकी संख्या कम है और वे समस्याएं व्यक्तिगत अधिक हैं, सामाजिक कम । उनके पात्र कभी समाज-व्यापी वास्तविक सत्ता के शोषण के शिकार नहीं होते, कभी उन्हें भूख, प्यास नहीं सताती । वे कभी भी अधिकार प्राप्त वर्ग से उत्पीड़न नहीं झेलते

जबकि भारतीय स्थितियां हरदम इसके प्रतिकूल रही हैं।इसलिए इनके उपन्यास प्रभावी क्षमता लिए होने पर भी समाजोन्मुख नहीं बन पाए और वे प्रेमचन्द की परम्परा से कटे हुए से जान पड़ते हैं । शिवकुमार मिश्र जी ने अपना वक्तव्य देते हुए लिखा है -

"अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास वस्तु के धरातल पर ही नहीं, शिल्प के धरातल पर भी प्रेमचन्द की परम्परा और विरासत से भिन्न पड़ते हैं ।"[1]

इलाचन्द्र जोशी ने सभी उपन्यासों में मनोविश्लेषण पर जोर दिया । उनके चरित्र प्रकृतवादी होकर रह गए हैं । "पर्दे की रानी" उपन्यास में निरंजना यौवनावस्था आते ही असंयमी पुरुष द्वारा गाड़ी में ही अपना कौमार्य नष्ट करवाने पर मजबूर हो जाती है और तो और पितृतुल्य संरक्षक मनमोहन जो अपनी लड़की की भांति निरंजना का पालन-पोषण करता है, षोड्सी होने पर वह भी कामुक प्रस्ताव रखता है । "घृणामयी" उपन्यास भी इन्हीं बीमार यौन सम्बन्धों का उद्घाटन करता है । "प्रेत और छाया" में तो अवैध यौन सम्बन्धों का ऐसा सिलसिला चलता है कि मनुष्य पशुवत होकर यौन आचरण करने में किसी भी नैतिक मापदण्ड को स्वीकारने हेतु राज़ी नहीं होता । मानसिक रोगी होकर जायज-नाजायज यौन सम्बन्ध स्थापित करना ही मानो उनकी जिन्दगी का पर्याय हो गया हो । इलाचन्द्र जोशी ने सभी उपन्यासों में इसी प्रकार के कथानकों को जी भर कर पिरोया है इनके पात्र अस्वस्थ मानसिकता के कारण स्वस्थ नैतिक जीवन जी ही नहीं पाते । उपन्यासों को पढ़कर संसार विकृतियों का डेरा नजर आता है । लगता है कि जीवन में व्यापक अनैतिकता, सेक्स ही एकमात्र समस्या बनकर रह गई है । भारत की तमाम यथार्थ से जूझ रही जनता की समस्याओं की अगुवाई करने में इनके

---

1. शिवकुमार मिश्र - प्रेमचन्द विरासत का सवाल, पृ:-115.

उपन्यास पीछे छूट गए हैं। विवेकीराय जी ने इन मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के बारे में अपनी बहुत सटीक राय इस प्रकार व्यक्त की है -

"परत-दर-परत कुंठाओं, प्रेम-घृणा के द्वन्द्वों, सैक्सी उपद्रवों तथा विविध विकृतियों और अन्तर क्रान्तियों को आधुनिक जीवन की संश्लिष्टता के सन्दर्भ में चित्रांकित किया है। ये चित्र प्रभावशाली चटक लिए हुए तो हैं ; परन्तु कभी-कभी इनकी अति अभिजात आधुनिकता औसत भारतीय जीवन अथवा सामान्य जन-जीवन से सर्वथा कटकर बेमेल पड़ जाती है ।"[1]

इलाचन्द्र जी ने अपने अन्तिम उपन्यास "जहाज का पंछी" में पुरातन शैली को छोड़कर यथार्थ चित्रण की शैली अपनाई है मानो जोशी जी यौन सम्बन्धों की मस्तिष्क की परत-दर-परत में उलझाते-सुलझाते स्वयं थक कर ढ्वर हो गए हों और अन्त में थकान मिटाने हेतु "जहाज का पंछी" के रूप में एक नया जायका तैयार करते हैं परन्तु यहाँ भी कोई विशेष क्रान्तिकारी परिवर्तन हम नहीं पाते। एक सामान्य सा मानवतावादी रुख वे अपनाते हैं इससे उनकी मूल परम्परा का कोहरा कहीं भी छंटता नजर नहीं आता । कुछ सफेद-2 सा भ्रम जो निरन्तर आगे बढ़ने पर और आगे बढ़ा हुआ दीखता है छोटी सी कथा लेकर पात्रों के आभ्यांतर की कशमकश और अहं का भयंकर उभाड़ मनोविश्लेषण के सहारे प्रभावी बनाने की कोशिश की गई है परन्तु उनके प्रयत्नानुसार उन्हें कामयाबी हासिल हुई नहीं है इस सम्बन्ध में नलिन विलोचन शर्मा का मत है -

"जोशी जी ने "प्रेत और छाया" में मनोविश्लेषण विज्ञान के कुछ प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का चर्वित-चर्वण किया है किन्तु इस विज्ञान की प्रणाली का लाभ उपन्यास के लिए वे उठा नहीं पाए हैं ।"[2]

---

1. सं0 नामवर सिंह - आलोचना, अंक - जनवरी-मार्च, 1986.
2. नलिन विलोचन शर्मा - आलोचना, अंक - अक्तूबर, 1952.

जैनेन्द्र, और इलाचन्द्र जोशी की भांति अज्ञेय जी ने भी सम्पूर्ण समाज को उसकी वास्तविकता में न देखकर व्यक्ति विशेष के मन की भीतर की दुनिया में प्रविष्ट होकर उसका मन का विश्लेषण अधिक किया है।अज्ञेय जी का मनोविश्लेषणात्मक चिन्तन इतना भारी भरकम रूप ग्रहण लेता है कि वह बोझिल सा जान पड़ता है । "शेखर एक जीवनी" तथा "नदी के द्वीप" के माध्यम से रचनाकार ने अहम, भय और सैक्स की मूल प्रवृत्तियों को हर समय की सच्चाई सिद्ध किया है । रचनाकार की मान्यता है कि मनुष्य मन पर वासना जनित प्रेम का हरदम प्रभाव रहता है । व्यक्ति की भले ही कितनी ही आस्थाओं में दरारें पैदा हों, उनका विखंडन हो, परन्तु काम भावना हर समय अवसर पाकर प्रकट हो जाती है।सामाजिक प्रतिबन्ध इस भावना को उभाड़ते हैं।व्यक्ति में कुंठा संत्रास के जनक भी कड़े सामाजिक प्रतिबन्ध ही हैं ।

"शेखर एक जीवनी" का शेखर एक असाधारण जिज्ञासा सम्पन्न बालक है । सामाजिक प्रतिबंधों, नैतिक मानदण्डों के प्रति उसमें आक्रोश है, परन्तु उसकी मन की तहों में नारी के प्रति लगाव बना रहता है नारी के प्रति ही क्यों केवल काम भाव के प्रति लगाव कहें तो ज्यादा बेहतर है तभी तो एक दिन समुद्र के किनारे कुमार का अधिकार पूर्वक चुम्बन लेता है । इसमें संदेह नहीं कि"शेखर एक जीवनी" के माध्यम से अज्ञेय जी ने हिन्दी उपन्यास में नये कीर्तिमान स्थापित किए, शैली के स्तर पर यह एक नया प्रयोग हुआ परन्तु फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि उनका साहित्य सृजन व्यक्ति की पीड़ा के बाह्य स्वरूप को नजर में न लाकर भीतर की यंत्रणाओं के खोल पर खोल उतारता है । खोल के भीतर खोल, फिर खोल और फिर अन्दर कुछ नहीं" जीवन व्यापी व्याधियों की रचनाकार ऐसी अमूर्त व्याख्या करते हैं कि वे सब बातें हवाई सी जान पड़ती हैं । श्रमशील जनता के संघर्षों को रचनाकार जब तक अपनी रचना में न्याय व हक पाने की संवेदनशीलता प्रकट नहीं करता तब तक उस हिस्से में वह रचना विश्वस्त नहीं बन सकती और भारत का एक

बहुत बड़ा हिस्सा आज भूखा है, नंगा है, अत्याचारों से पीड़ित है, दिन में अठारह घंटे श्रम करके भी वह भोजन की चिन्ता करने के लिए अभिशप्त है । ऐसे संघर्षशील समुदाय में वास्तविक समस्याएं अधिक होती हैं, उनका सत्य कड़वा होता है, उन्हें मानसिक व्याधियाँ उतनी प्रिय नहीं होतीं जितनी श्रमशीलों के श्रम पर पलने वालों की चहेती होती हैं । अतः विस्मय नहीं यदि इस तरह की मानसिक गुत्थियों से ओतप्रोत रचनाएं एक बहुत बड़े हिस्से में विश्वस्त न हो पाएं । भारतीय जनता के जीवन की हलचल, उनकी वास्तविकता उनके संघर्षों का जायजा इस प्रकार के उपन्यासों से नहीं लिया जा सकता ।

भारतीय समाज के मौजूदा हालात इतने संकटमय हैं जिनको लेकर अनगिनत ग्रन्थों की रचना करने पर भी उनके हालातों का सही बयान होना असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है । फिर इस तरह उच्च मध्य वर्गीय चरित्रों के अमूर्त संकटों की अगुवाई करने वाली रचनाधर्मिता से भारतीय जीवन के सही खाके से कोसों दूरी पर जा पड़ना है। अज्ञेय की रचनाधर्मिता के सन्दर्भ में रेखा अवस्थी का मूल्यांकन काफी सटीक है -

"इस तरह वर्ग हितों से परे उच्च वर्ग के मानव मात्र के प्रति सहानुभूति के साथ उपन्यास की रचना से सारे दृष्टि-विभ्रम उत्पन्न हुए और सामाजिक वास्तविकताओं तथा व्यक्ति की कर्म प्रेरणाओं की खोज "अहं," "भय" तथा "सैक्स" की तीन वृत्तियों में की गई है। सम्भवतः इसीलिए "विद्रोह के लिए विद्रोह" के सिद्धान्त का प्रचार किया गया है ।"[1]

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में व्यक्तिवादी, मनोविश्लेषणवादी रचनाकारों के अतिरिक्त एक ऐसा वर्ग भी है, जो भारतीय मेहनतकशों के सुख-दुख का रचनात्मक स्तर पर सहभागी बन इनके भविष्य के बारे में अपना प्रगति-

---

1. रेखा अवस्थी - प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य, पृ:- 244.

शील दृष्टिकोण अभिव्यक्त करता है । जिनमें मुख्य-2 रचनाकर यशपाल, रांगेय राघव, भगवत्शरण उपाध्याय, फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन तथा भैरव प्रसाद गुप्त स्वयं है । इन उपन्यासकारों के सन्दर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि ये रचनाकार प्रेमचन्द के समानधर्मा रचनाकार हैं । प्रेमचन्द के बाद की परिस्थितियों में परिवर्तनानुसार इन रचनाकारों के स्वरों में परिवर्तन आए । जो युग की मांग थी, रचनाकारों ने उसे महसूस किया । इनके लिए सत्य एक व्यक्ति का नहीं पूरे समाज का है । ये व्यक्ति से समाज की ओर गमन करते हैं, समाज से व्यक्ति की ओर नहीं । इन्हें व्यक्ति की बाहरी त्रासदी अधिक दु:खी करती है भीतरी कम । इनकी लेखनी पात्रों की अन्तरतम की गुत्थियों को मनोविश्लेषणात्मक तरीके से अभिव्यक्त करने की चेरी भी नहीं रही ।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में यशपाल भी शीर्षस्थ रहे । यद्यपि इनके उपन्यासों के स्वर प्रेमचन्द के उपन्यासों से काफी अलग-थलग जान पड़ते हैं। परिस्थितियाँ परिवर्तित हुई । द्वितीय महायुद्ध के कारण नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा । रचनाकारों के समक्ष युद्ध के मोर्चे पर जा रहे सैनिकों की प्रेमिका व उनके सम्बन्धों का सवाल भी मुखर था । नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन के कारण अब प्रेम का स्वरूप काफी उन्मुक्त हुआ । नारी विवाह से पूर्व भी गर्भवती हो सकती थी । यशपाल जी ने अपने "देशद्रोही" "दादा कामरेड" व "दिव्या" में इन्हीं समस्याओं को लिया है यद्यपि ये उपन्यास यौन ग्रन्थियों की अभिव्यक्ति मात्र ही बनकर रह गए हैं, नारी व पुरुष के सम्बन्धों की सीमाएँ इन्हें अखरी हैं वहाँ वे उन परम्पराओं को अपने पात्रों से तहस-नहस करवाकर स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों के पक्षधर बनकर पाठक के समक्ष उपस्थित होते हैं । प्रेमचन्द कालीन प्रेम और विवाह के मानदण्ड यशपाल की लेखनी से छूट जाते हैं ।

"दादा कामरेड" में हरीश को फाँसी की सजा होने पर प्रेमिका

"शैल" अपने गर्भ को गिरवाती नहीं है वरन वह गर्भ की हिफाजत हेतु दूसरे स्थान पर निकल जाती है । पारिवारिक एवं सामाजिक लोग मर्यादा को त्यागकर नवीन मूल्यों के साथ जीने की आकांक्षी "शैल" प्रेमचन्दयुगीन मूल्यों के कटघरे में फिट नहीं बैठती । वह अनेक पुरुषों से प्रेम करने में ही अपने व्यक्तित्व का विकास समझती है । यशपाल ने प्रेम को आवश्यक अनिवार्यता के रूप में स्वीकार किया है तभी तो क्रान्तिकारी हरीश "शैल" को देखकर प्रेम्मिल संवेदनाओं की जाग्रति अनुभव करता है -

"वह युवती है, जीवन की मृदुतम सहृदयता और तुष्टि का स्रोत लिए । क्या तू उसे नहीं पहचानता ? तू केवल क्रान्ति की मशीन ही नहीं, मनुष्य है ।"[1]

यशपाल जी ने प्रेम की अनिवार्यता तो स्वीकार की है, प्रेम से सम्बन्धित मानदण्डों में भी परिवर्तन आवश्यक माने हैं । प्रेमचन्दकालीन नैतिक मान-दण्ड "प्रेम की परिणति विवाह में" की रूढ़ मान्यता को यशपाल एक ही झटके से विश्रृंखलित कर देते हैं । यशपाल जी का मानना है -

"प्रेम तो जीवन की सहायक और पूरक वस्तु है जीवन में अड़चन बनकर प्रेम नहीं चल सकता ।"[2]

"झूठा सच" में रचनाकार ने बुर्जुआ समाज की काम सम्बन्धी नैतिकता का उद्घाटन किया है । नारी पात्र "शीलो" विवाहित होते हुए भी अपने पूर्व प्रेमी से प्रेम करना अनैतिक नहीं मानती । वह प्रेम की परिणति विवाह में भी आस्था नहीं रखती । प्रेम और विवाह दोनों का अलग-2 अस्तित्व है। "शीलो" अपने पति को छोड़कर प्रेमी रतन से प्रेम सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए कहती है -

"मुहब्बत का धर्म अपनी जगह है, घर बार का धर्म और ब्याह अपनी जगह ।

---

1. यशपाल - दादा कामरेड, पृ.- 35.
2. यशपाल - मनुष्य के रूप, पृ.- 86.

मुहब्बत की रीति ही ऐसी चली आई है, बड़ों ने भी वही किया है। कृष्ण महाराज का गोपियों से, राधाजी से प्रेम था तो उसके लिए रुक्मिणी को छोड़ दिया था ? कुब्जा के साथ रहे तो भी अपना घरबार नहीं छोड़ा।"[1]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि यशपाल में मध्यवर्गीय सुधार-वादी भावना अधिक प्रबल है। उनके सभी पात्र हरीश, भूषण, खन्ना आदि मध्यवर्ग से ही आते हैं। यशपाल जी इसी सीमा के चलते प्रेमचन्द की परम्परा से कुछ दूर छिटके जान पड़ते हैं। यद्यपि प्रेमचन्द ने भी मध्यवर्ग पर लिखा है परन्तु दोनों की दृष्टियों में पर्याप्त भिन्नता है।यशपाल जी के यहाँ तो मुख्य समस्या प्रेम और यौन सम्बन्धों को समेटकर की जाती है। उनके पात्र भूख से संघर्ष कम करते हैं, यौन ग्रन्थियों से अधिक। एक सबसे बड़ा अभाव उनके उपन्यासों में यह खटकता है कि उनके सभी पुरुष पात्र मध्यवर्गीय कम्यूनिस्ट है। वे राजनैतिक संघर्ष के साथ ही साथ प्रेम और यौन संघर्ष भी झेलते हैं इन पात्रों के माध्यम से वे उस वर्ग की वास्तविक स्थिति, उसका प्रपंच, छलनाएँ, प्रदर्शन प्रवृति व उसके वास्तविक संघर्षों का विवरण न करके वे पात्र विशेष की संघर्षशील स्थिति का चित्रण करते हैं। पात्र का यथार्थ उस वर्ग का यथार्थ नहीं बन पाता जो पाठक को खटकता है। उनका प्रगतिशील चिन्तन नारी पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों के इर्द-गिर्द ही घूमता है, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं —

"यशपाल की प्रगतिशील चेतना सबसे अधिक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में व्यक्त हुई है। "दादा कामरेड," "देशद्रोही" और "पार्टी कामरेड" में स्वतन्त्रता के संघर्ष का बाहरी आधार भर है। कथाएँ आन्तरिक रूप में औरत की आजादी के बारे में लेखक की मान्यता के अनुरूप प्रेम प्रसंगों की है।"[2]

---

1. यशपाल - झूठा सच, पृ॰- 199.
2. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक - यशपाल का यथार्थवादी दृष्टिकोण

यशपाल के पश्चात प्रेमचन्दोतर उपन्यासकारों में रांगेय राघव हिन्दी साहित्य के लिए वरदान साबित हुए । "हुजूर," "विषादमठ" "सीधा-सादा रास्ता," "मुर्दो का टीला" व "कब तक पुकारूँ" उपन्यासों की रचना करके प्रेमचन्द कालीन यथार्थबोध को ग्राहण करते हुए युगबोध के अनुसार उसे बहुत कुछ नये से श्री वृद्धि करती है । प्रेमचन्द अपने अन्तकाल तक जाते-2 सुधारवादी भावना का पूर्णतया परित्याग करके शोषक वर्ग के विरुद्ध शस्त्र उठाने की बात करते हैं । रांगेय राघव का लेखन तो वहाँ से आरम्भ ही होता है । वे अहिंसावादियों की नीति में आस्था नहीं रखते उनका स्पष्ट मानना है कि शोषक वर्ग को शक्ति से ही हटाना पड़ेगा । शोषितों को एक जुट होकर, वर्गीय चेतना का निर्माण करके शोषक वर्ग के विरुद्ध लड़ाई छेड़नी आवश्यक है । "सीधा-सादा रास्ता" में उनका मार्क्स-वादी दृष्टिकोण ब्रहमदत्त के माध्यम से स्पष्ट हुआ है —

"मैं वर्ग के अनुसार व्यक्ति को देखता हूँ । मैं भौतिकवादी कल्याण को ही सबसे बड़ा समझता हूँ । मुझे उस दयालुता में श्रद्धा नहीं जिसकी सार्मथ्य शोषण पर टिकी हो ··· शोषक के हथियारों से न डरो ··· हर नये निर्माण के लिए ध्वंस की आवश्यकता है ।"[1]

रांगेय राघव अपने पात्रों में भीतरी उठाव-पटक, अन्तर्द्वन्द्व का बारीकि से विश्लेषण करते हैं।वे उनकी सामाजिक समस्याओं से पूरी तरह जानकार होने के कारण पात्रों के मनोविश्लेषण में एक हद तक सफलता प्राप्त करते हैं । उनका मनोविश्लेषण जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी की भाँति केवल मानस की तमाम गुत्थियों का बंडल बनकर ही सामने नहीं आता । उनका मनोविश्लेषण पात्रों की सामाजिकता से जुड़ने के कारण विश्वस्त मालूम होता है "कब तक पुकारूँ" में रचनाकार नटों के जीवन व उनकी संस्कृति को

1· डॉ0 रांगेय राघव - सीधा-सादा रास्ता, पृ·- 275.

उपन्यास की कथावस्तु का आधार बनाते हैं । नटों के जीवन की भीषणता, उनके आर्थिक संकट से व्युत्पन्न तमाम व्याधियों का रांगेय राघव जी ने एकमेक होकर ऐसा मानवीय चित्रण किया है जिसके बराबर का हिन्दी में अन्य उपन्यास नहीं है । नट इसलिए उपन्यास की कथावस्तु के आधार बनाए गए हैं क्योंकि ये लोग पूरी तरह शोषित हैं । "विषादमठ" में बंगाल के अकाल के समय भूखमरी की विकरालता के समक्ष सभी व्यक्ति एक मुठठी अनाज के लिए सारी दौलत, घर, खेत यहाँ तक कि स्वंय का शरीर तक बेचने को तैयार हो जाते हैं।इस प्रकार रांगेय राघव का चाहे "सीधा-सादा रास्ता हो या "कब तक पुकारूँ" हो या फिर "विषादमठ" सभी का कथानक दलित शोषित पीड़ित मानवता की कराह को समेटे हुए है ।

"मैला आँचल" के माध्यम से "रेणु" भी स्वत: ही प्रेमचन्द की परम्परा से जुड़ जाते हैं बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगंज गाँव को समूची वास्तविकता के साथ वहाँ के जन-जीवन को उनकी विषमता में उनके विषाद में, उनके आक्रोश में, उनके विक्षोभ में रेणु जी ने बिना लाग लपेट के चित्रण से अभिशप्त मानवता के प्रति अथवा रूझान स्पष्ट किया है परन्तु उनकी लेखनी आगे चलकर अपने इसी मंतव्य का विकास न करके "परती परिकथा" में दूसरा ही मोड़ ले लेती है । इस प्रकार वे जिस यथार्थवादी परम्परा से अपने लेखन की शुरूआत करते हैं, विकास के समय दूसरा रूख अपनाना उन्हें प्रेमचन्द परम्परा से विमुख कर देता है ।

प्रेमचन्दोतर उपन्यासों में श्रीवृद्धि करने वाले उपन्यासकारों में राहुल सांकृत्यायन का नाम भी अग्रणी है । राहुल जी ने अपने रचना संसार में ऐतिहासिक सन्दर्भो का सहारा अधिक लिया है।उनका उद्देश्य मार्क्सवाद की जटिल गुत्थियों को स्पष्ट करते हुए उसे सरल, सहज भाषा शैली में पिरोते हुए, भारतीय दर्शन से मार्क्सवाद के अभिन्न सम्बन्ध को स्थापित

करने का कार्य बहुत बड़ी उपलब्धि है । प्रेमचन्द "गोदान" व "मंगलसूत्र" तक जाते-जाते मार्क्सवादी दर्शन में विश्वास करने लग गए थे राहुल जी भी मानव मुक्ति के लिए मार्क्सवादी चिन्तन को ही अभिष्ट मानते हैं तथा इस साहित्य को वे जन-जन तक सम्प्रेष्य बनाने में प्रयत्नरत हैं । राहुल जी के प्रयत्नों से इतना तो स्पष्ट है कि वे बिल्कुल प्रेमचन्द की लीक पर तो नहीं चले, जैसे प्रेमचन्द दलित, शोषित व पीड़ित मानवता की मुक्ति के लिए चिन्तित थे, राहुल जी भी अपने सामने वही मंतव्य रखते हैं।अत: उद्देश्य की एकता के कारण उनके मूल्यों में काफी कुछ समानता के दर्शन किए जा सकते हैं ।

जीवन के अन्त तक जाते-जाते प्रेमचन्द जी मार्क्सवाद के जिस आँगन का द्वार खटखटाते हैं, अमृतराय जी के लिए यही मार्क्सवाद, घर आँगन है, देहरी है, उनकी बगिया है जिसमें मानव मुक्ति के नये-नये सुमन प्रतिपल प्रस्फुटित होते हैं । जिन्दगी के विविध रूपों, विविध आयामों को ये अपने उपन्यासों में प्रकट करके अपना समाजव्यापी चिन्तन स्पष्ट करते हैं । "बीज" उपन्यास से लेकर "धुँआ" तक सभी उपन्यास विविध परिप्रेक्ष्यों की सिमटी हुई तहें खोलते हैं।छोटी से छोटी पारिवारिक समस्या से लेकर देशव्यापी विकराल समस्याओं पर बिना किसी दुहराव-तिहराव के निर्भीक होकर लिखा है ।

"बीज" उपन्यास के माध्यम से अमृतराय ने पारिवारिक समस्याओं को "सत्य" व "उषा" तथा अपनी माँ के मध्य हुए कलह के माध्यम से व्यक्त करते हैं । पुरातनपंथी सामन्ती संस्कारों वाली माँ चाहती है कि बहु घूँघट निकाले । क्रान्तिकारी "सत्य" इन दकियानूसी विचारों की कड़ी दर कड़ी को चूर-चूर कर देना चाहता है । अत: माँ व बेटे के बीच झगड़ा होता है। केवल यही समस्या नहीं बर्बर जमींदारी पंजे के आक्रमण की समस्या प्रमुख

समस्या है । स्वतन्त्रता के पश्चात भी जमींदारी शोषण में कोई विशेष अन्तर नहीं आ पाया । किसान आज भी पहले से ही दलित हैं, शोषित है, हर वोट का भागीदार है । "बीज" में अमृतराय जी किसानों की दयनीय हालात के कारण को स्पष्ट करते हैं —

"किसान को क्या मिला इस आजादी से, मजदूर को क्या मिला इस आजादी से, दरिद्र नारायण को क्या मिला इस आजादी से ··· जमीन, चकबन्दी, अच्छे बीज और अच्छी खाद ··· की सुविधाओं के लिए स्वप्न देख रहा था किसान वर्ग, किन्तु ये सारी सुविधाएँ सरकारी कर्मचारी और उनके साथ उठने बैठने वाले जमींदारों के पेट में चली जाती है ।"[1]

इस प्रकार "बीज" उपन्यास में पारिवारिक समस्या से लेकर राजनैतिक समस्या तक रचनाकार की गहरी पहुँच है । वे कांग्रेस की कार्य पद्धति पर भी व्यंग्य करने से नहीं चूकते । "हाथी के दाँत" पूरा उपन्यास ही भ्रष्ट कांग्रेसी प्रशासन पर करारा व्यंग्य है । कांग्रेसी नेताओं की कामलोलुपता से पर्दा उठाता है यह उपन्यास । नागार्जुन के "बलचनमा" तथा भैरव प्रसाद गुप्त के "सती मैया का चौरा" की भाँति "अमृतराय" का "हाथी का दाँत" कांग्रेसी कार्यप्रणाली को व्यंग्य का आधार बनाता है ।

प्रेमचन्दोतर उपन्यासों में नागार्जुन का नाम लिए बिना उपन्यास साहित्य लगभग अधूरा रह जाता है । नागार्जुन व भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यासों के अध्ययन से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि दोनों रचना-धर्मी एक ही उद्देश्य से संचालित है । ग्राम्य जीवन में कृषकों पर हो रहे जमींदारी तथा सरकारी कर्मचारियों के अत्याचारों को दोनो ही उपन्यास-

---

1. अमृतराय - बीज, पृ॰- 260-261.

कारों ने समान रूप से गहन संवेदनशीलता से व्यक्त किया है । दोनों के ही प्रगतिशील पात्र निम्न वर्ग से उभरते हैं, वर्गीय चेतना से चालित होकर वे अपने वर्ग हितों के लिए शोषक शक्ति के विरुद्ध संगठन तैयार करके लड़ते हैं । "बलचनमा" में स्वयं "बलचनमा" तथा भैरव प्रसाद जी के "गंगा मैया" में "मटरू" एक ही उद्देश्य से कृषकों के मध्य चेतना प्रसारण का कार्य करते हैं। यह अलग बात है कि दोनों की चाल में गति अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार ही है । जहाँ गंगा मैया का मटरू जमींदारों के विरुद्ध एक लड़ाकू संगठन तैयार कर लेता है, जो एक बारगी जमींदारों की चालाकी को नाकामयाब कर देता है वहाँ "बलचनमा" अन्त में जमींदारों द्वारा पिटाई खाता है परन्तु यह हर्ष की बात है कि "बलचनमा" भी उसी गंतव्य तक पहुँचने की इच्छा शक्ति रखता है, जहाँ तक "मटरू" पहुँच चुका है।"बलचनमा" की प्रशंसा में निर्मला वार्ष्णेय लिखती हैं —

"बलचनमा में हौसला है, वर्ग चेतना की समझ है, जूझकर उत्सर्ग करने की चेतना है ।"[1]

नागार्जुन के पास खरी मानवीय अनुभूतियाँ हैं । जीवन को महसूसने के लिए इन्होंने संकीर्ण दृष्टि से काम न लेकर जीवन की विविधताओं, संगतियों-असंगतियों को समग्र रूप में देखा, महसूसा और एक हद तक उसके साथ हो लिए । किसी भी लोभ-लालच के समक्ष बिना झुके अपने भावबोध को तमाम यातनाओं से सहलाते हुए उसमें और अधिक परिपक्वता तथा निखार लाते हुए ग्रामीण किसानों और मजदूरों के जन्म से लेकर मृत्यु तक के विभिन्न पड़ावों को देखकर, भोगकर, इनकी जो तमाम रचनाएं प्रस्फुटित हुई, वे अपनी पुष्टि या सार्थकता के लिए किसी दार्शनिकवाद या मनोविज्ञान की दासी नहीं है ।

---

1. डॉ० निर्मला वार्ष्णेय - प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में प्रगतिशीलता, पृ.-95.

"रतिनाथ की चाची" में विधवा समस्या, "बलचनमा" में कृषक-जमींदार संघर्ष "वरुण के बेटे" में निम्न वर्गीय मछेरों का जमींदार के विरुद्ध संगठन, "जपनिया का बाबा" में पण्डे-पुरोहितवाद पर व्यंग्य करते हुए नागार्जुन ने प्रेमचन्द की यथार्थवाद की परम्परा को समयानुसार आगे बढ़ाया । डॉ० रामदरश मिश्र ने इनकी बहुआयामी चिन्तनशील दृष्टि को इन शब्दों में व्यक्त किया है —

"ये जन सामान्य की आर्थिक विषमता, पीड़ा, अभाव, अपमान व संघर्ष को यथार्थवादी दृष्टि से उभारते हैं साथ ही साथ नयी चेतना के आलोक में बनते नये मूल्यों और संबंधों को भी उभारते हैं । लेखक पुराने सम्बन्धों, मूल्यों और स्थितियों की विभीषिका को चित्रित करता हुआ सर्वत्र उसमें उभरती दरारों को अनावृत करता है तथा नए क्षितिजों की ओर संकेत करता है ।"[1]

नागार्जुन अपने उपन्यासों के माध्यम से जनमानस की गहराइयों तक इतने पहुँच गए हैं कि वे उस हिस्से का अंग प्रतीत होने लगते हैं । शोषित के प्रति उनकी संवेदना इतनी एकमेक हो जाती है कि संवेदनशील और शोषित में कोई भिन्नता नजर नहीं आती । वे शुद्ध वर्ग चेतना के रचनाकार हैं । उनकी पक्षधरता स्पष्ट है, वे शोषित वर्ग के साथ हैं, शोषकों के खिलाफ उन्हें संगठित करके विद्रोही चेतना से सम्पन्न करके अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु रणक्षेत्र में उतरने का संदेश देना इनकी रचनाओं का अभीष्ट है । किसान, जमींदार, नेता, विधवाएँ, गरीब दलित के दु:खों से मानो इनका जीवन-भर का सरोकार है । उनकी रचनाशीलता भूखे, बेघरबार, भूमिहीनों पर हो रहे जोरशुदा वर्ग के अत्याचारों

---

1. डॉ० रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा, पृ०- 194.

को समाप्त करके एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं, जहाँ व्यक्ति - व्यक्ति का शोषण न करे । मानव - मानव के मध्य एक ही रिश्ता हो, वह हो समानता का रिश्ता । व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार श्रम करके अपना व अपने परिवार का भरण पोषण कर सके । डॉ० "सुषमा धवन" ने उनके इस चिंतन को समाजवादी चेतना का विकसित रूप मानते हुए लिखा है —

"नागार्जुन की कथावृत्तियाँ समाजवादी उपन्यास की श्रेणी में विन्यस्त की जाती हैं, परन्तु वे मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार के बोझ से दबी हुई नहीं हैं । लेखक ने अपनी रचनाओं में सीधे लोक जीवन से इसे ग्राहण किया है ••• वे यथार्थ के क्रान्तिकारी पक्ष को पहचानते हैं तथा जीवन की उन शक्तियों को उभारते हैं, जिनसे समाज में विषमता दूर होगी, रूढ़ियों का नाश होगा और मानव का विकास होगा ।"[1]

प्रेमचन्द के पश्चात हिन्दी उपन्यास विविध तेवरों के साथ हिन्दी पाठक समुदाय के समक्ष उपस्थित हुआ । मनोविश्लेषण की ऐसी धारा चली जिसके प्रवाह में जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, व अज्ञेय इत्यादि ने समाज की व्यापक विभीषिकाओं से नाता तोड़कर व्यक्ति के अन्तर्मन के द्वन्द्वों से अपना गठन जोड़ा । प्रेमचन्द ने साहित्य को व्यापक मानवता के हित में समर्पित करने का जो आदर्श रखा था, मनोविज्ञान के चलते ये रचनाकार प्रेमचन्द के साहित्यकार के उस दायित्व से छूट लिए । 'यशपाल' भी व्यापक मानवता को समर्पित होते हुए भी अपना बहुत ध्यान मध्यवर्गीय जीवन पर लगाए रखा । 'रांगेय राघव' ने प्रेमचन्द की परम्परा को बरकरार रखने की कोशिश की तो फणीश्वरनाथ जी "मैला आंचल" में सम्भावना बढ़ाकर "परती परिकथा" में अचानक सारे स्वप्न धूमिल कर देते हैं । 'अमृतराय' ने प्रेमचन्द

---

1. डॉ० सुषमा धवन - हिन्दी उपन्यास, 1961, पृ॰- 302.

युगीन मानदण्डों में युगबोध के अनुसार परिवर्तन करते हुए वृहत समुदाय के लिए लिखा । नागार्जुन तो दलित, शोषित मानवता के पर्याय ही बन गए । हिन्दी के वरिष्ठ उपन्यासकार भैरव प्रसाद गुप्त भी प्रेमचन्द की परम्परा को अक्षुण्ण रखने में अपना भरसक सहयोग दिए हुए हैं ।

भैरव जी के लिए साहित्य उस बचे-खुचे समय का परिणाम नहीं है, जो दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के सम्पादन के पश्चात् बचा रहता है, साहित्य उनके लिए समय व्यतीत करने की दवा भी नहीं है । अपनी गहन आन्तरिक सुलग, दबाव और गुस्से से अपने समाज एवं देश के प्रति लगन ही उन्हें साहित्य रचने पर विवश करती रही है । अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों के साथ ही भारत में सामन्ती पूँजीवादी शोषण की बर्बरता में पिसते किसान, मजदूर के साथ ही साथ नारी की दयनीय स्थिति का इनके प्रत्येक उपन्यास में केवल जिक्र ही नहीं अपितु वे नारी पात्र इस बुरी स्थिति से निजात पाने हेतु जंजीरों को तोड़कर फेंकने पर आमादा हैं । वे कोई समझौतावादी रास्ता न अपनाकर सीधे-सीधे संघर्षक्षेत्र में उतरते हैं, तथा विरोधी वर्ग से टक्कर लेते हैं ।

भैरव जी की उपन्यासिक कृतियाँ, "शोले," "मशाल," "गंगा मैया," "आग और आँसू," "सती मैया का चौरा," "धरती," "आशा," "कालिन्दी" "नौजवान," "एक जीनियस की प्रेमकथा" तथा "बाप और बेटा" आदि हैं इनमें से "गंगा मैया," "सती मैया का चौरा," "आग और आँसू" व "धरती" मुख्य हैं । "सती मैया का चौरा" में मुन्ने और मुन्नी के माध्यम से मनुष्य को निगलने वाली व्यवस्था के विरुद्ध श्रमिकों को संगठित करने में उद्यमरत दिखाया है । वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष के माध्यम से रचनाकार श्रमिकों की विजय से ऐसे समाज की आस्था रखता है जहाँ श्रमिकों का शासन होगा, उन पर कोई जमींदाराना या सामन्ती शक्ति हावी होकर उनका रक्तपान

नहीं कर पाएगी । व्यक्ति अपने व्यवसाय, आजीविका के लिए स्वतन्त्र होगा और खुले गगन तले अपनी मनचाही जिन्दगी जीने में सफल होगा । "गंगा मैया" का एक जीवंत पात्र "मटरू" एक तरफ जमींदाराना शोषण के खिलाफ दूसरी तरफ सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध अकेला ही खड़ा होता है । जमींदारी भूमि बन्दोबस्त का विरोध करते हुए अपनी अनुगामिनी एक पलटन तैयार कर लेता है, जो जमींदारों की साजिश में फंसे हुए "मटरू" के जेल प्रवास के पश्चात भी एक जुट होकर जमींदारी हमलों का करारा जवाब देती है। "मटरू" के पश्चात "पूजन" के नेतृत्व में वह संगठन पूरे आत्म विश्वास के साथ शोषक शोषक व्यवस्था से लगातार टक्कर लेता है । पूजन के शब्दों में ...

"तुम्हारे साथी अपने खून की आखिरी बूँद तक से इसकी रक्षा करेंगे । जिस तरह गुजरा जमाना फिर वापस नहीं आता उसी तरह जमींदारों के उखड़े पैर यहाँ फिर कभी न जम पाएंगे । हमारा जोर दिन-दिन बढ़ता जा रहा है ।"[1]

भैरव जी ने अपने लगभग सभी उपन्यासों में दलित, श्रमिक वर्ग में वर्ग चेतना के आप्लावन से ही शोषण के खात्मे की संभावना में आस्था व्यक्त की है।उनका प्रत्येक उपन्यास मानो पुकार-पुकार कर वर्ग चेतना के लिए आह्वान कर रहा हो । डॉ0 एन0 श्रीवास्तव का मत है : -

"यह वास्तव में उस क्रान्तिकारी मानववाद का आह्वान है जिसका संदर्भ "लघुमानव" नहीं, लघु कहे जाने वाले धरती के कोटि-कोटि संघर्षरत मानव है जो उन परिस्थितियों के लिए संघर्ष करते हैं जिनमें मानव व्यक्तित्व अपनी सहजता में सम्पूर्णत: विकसित हो सके ।"[2]

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - गंगा मैया, पृ॰- 145.
2. डॉ0 एन0 रवीन्द्रनाथ - मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास, रवीन्द्रनाथ पृ॰- 190.

"आग और आँसू" का तो प्रत्येक पात्र ही मानो गुलामी की बेड़ियों को तोड़कर अगले ही क्षण मुक्त आकाश में विचरण करने के ताने-बाने बुन रहा है । "रमेसर," "चतुरी" व "महाबीर" जमींदारों के विरुद्ध किसानों में वर्गीय हितों के प्रति जागरूकता फैलाते हैं तो जमींदारी हवेली की लौंड़ी "मुंदरी" द्वारा सामन्ती भय को त्यागकर गुलाम पेंगा के साथ हवेली से भागने की योजना ही सामन्ती कृत्रिमता को एकबारगी नंगा कर छोड़ती है । भैरव जी भारतीय ग्राम्य जीवन में विद्यमान कड़वे सत्यों से सीधे-सीधे साक्षात्कार करते हुए उन कठिनाइयों में व्युत्पन्न क्रान्तिकारी ताकतों से पाठकों का परिचय करवाते हैं, जो ताकतें कठिनाइयों में पैदा हुई हैं और कठिनाइयों के खिलाफ जुझारु रुख अपनाती हैं । प्रेमचन्द के पश्चात ऐसे रचनाकारों का अभाव नहीं रहा जो गाँवों में विद्यमान विद्रूपताओं से घबराकर निराशावादी रुख अख्तियार कर लेते हैं । भैरव जी का लेखन मानो इन रचनाकारों की सोच को चुनौती दे रहा हो । शिवकुमार मिश्र ने "भैरव प्रसाद गुप्त" को "नागार्जुन" व "रांगेय राघव" के समानधर्मा साबित करते हुए लिखा है —

"भैरव प्रसाद गुप्त," "नागार्जुन" व रांगेय राघव" की ऐसे ही लेखकों के रूप में जाना पहचाना जाता है जिनमें नकारवादी दृष्टिकोण के बजाय एक ऐसी दृष्टि का विकास और नियोजन मिलता है जो सतह की वास्तविकता को सतह के भीतर जाकर कुरेदने और पहचानने का प्रयास करती है ।"[1]

भैरव जी के किसी भी उपन्यास को देखा जाए यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि जमींदारी उन्मूलन के पश्चात भी ग्रामीण समाज सामन्ती बर्बर पंजों के पैने नाखूनों की टक्कर से उबर नहीं पाया है, क्योंकि

---

1. शिव कुमार मिश्र - प्रेमचन्द की विरासत का सवाल, पृ.- 144.

कानूनी रूप से जमींदारी समस्या का समाधान एक दूसरे रूप में पूर्व की भाँति उतना ही सशक्त शोषण का माध्यम बना है, जो कल जमींदार थे वे आज सामंत हैं । गाँवों में परिवर्तन लाने हेतु वहाँ की आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आवश्यक है, अन्यथा कोई भी परिवर्तन बेमानी है । चाहे सरकार कितने ही नये कानून ईजाद करे, जनता शोषण से निजात पाने में सफल नहीं हो सकती ।

भैरव जी ने केवल किसान-जमींदार सम्बन्धों पर ही लिखकर अपने लेखन की इतिश्री नहीं की अपितु उनकी लेखनी के आयाम बहुत व्यापक हैं और समाज की तमाम समस्याओं पर उनकी नजर गई है । "नौजवान" उपन्यास में एक ग्रामीण छात्र जो शहर में शिक्षा प्राप्ति हेतु जाता है, उसकी राष्ट्रीय व सामाजिक आन्दोलनों में भागीदारी तथा उसके मानसिक द्वन्द्व को बड़ी ईमानदारी से बेबाक किया है । तो "रम्भा" उपन्यास में गाँधीवादी विचारधारा को रचनाकार ने निरर्थक मानते हुए इसे देशहित की आड़ में उच्च एवं मध्य वर्ग के धन कमाने का जरिया बताया, वहीं इसी उपन्यास में नारी के प्रति वस्तुवादी दृष्टिकोण का विरोध किया है । "कालिन्दी" उपन्यास में रचनाकार ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के चलते उच्च वर्ग की कलुषित भूमिका को आवरणहीन किया है । उच्च वर्ग के फरेब, दगाबाजी, स्वार्थी नीति व दोगलेपन को जो देशहित में काफी बाधक रही, स्पष्ट किया है वहीं "मशाल" का उद्देश्य बहु-आयामी है। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर संकट, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा भारतीय जनमानस का दमन पूँजीवाद का उदय, भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना, 1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन, कांग्रेस की स्वार्थी नीति, बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता, कांग्रेस द्वारा मजदूर नेताओं की गिरफ्तारी, भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी का अवैध घोषित किया जाना इन सबके अतिरिक्त पूँजीवादी व्यवस्था में नारी के गिरते हुए सामाजिक स्तर, धार्मिक रूढ़ियाँ आदि तमाम विडम्बनाओं को

प्रभावी शैली से पाठकों तक सम्प्रेषित किया है ।

भैरव जी के समस्त उपन्यासों पर गौर करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि प्रेमचन्द जी के पश्चात भैरव जी को पूँजीवादी व्यवस्था की विकरालता और भयावहता को बहुत गहरे देखने का मौका मिला । यद्यपि प्रेमचन्द भी पूँजीवादी व्यवस्था की विकरालता को समझते-बूझते थे ; परन्तु समय के अन्तराल के कारण भैरव जी के हथियार अधिक पैने हो जाते हैं । प्रेमचन्द जी जहाँ जीवन के अन्तिम क्षणों में जाकर समाजवादी व्यवस्था को अन्तिम सत्य मानते हैं वहीं भैरव जी अपने शुरूआती लेखन में ही वर्ग संघर्ष की बात करते हुए ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं, जहाँ शोषक-शोषित सम्बन्धों का खात्मा हो, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच केवल मनुष्यता का सम्बन्ध रहे और निश्चित ही यह स्वार्थहीन सम्बन्ध समाजवादी व्यवस्था में ही कायम हो सकता है । विद्याधर शुक्ल ने भैरव जी के रचनाकार को प्रेमचन्द जी की विकास की अगली कड़ी स्वीकारते हुए बहुत सटीक लिखा है —

"प्रेमचन्द की अपेक्षा भैरव प्रसाद गुप्त को भारतीय समाज की एक अधिक भयावह और विकराल तस्वीर देखने को मिली है, जिसमें शोषण की पूँजीवादी व्यवस्था का वर्चस्व बढ़ता गया है।सामन्तवाद की गन्दी नालियों के अतिरिक्त अब पूँजीवाद के अन्डरग्राउन्ड गटर है ··· भैरव प्रसाद ने पूँजीवादी संस्कृति के अवचेतन गर्भ काटने और गिराने का जायज और मानवीय प्रयास किया है इसीलिए उनके हथियार प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक उन्नत और धारदार है ।"[1]

---

1. सं0 विद्याधर शुक्ल - भैरव प्रसाद गुप्त : व्यक्ति और रचनाकार, पृ॰-80-81.

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में भैरव प्रसाद गुप्त का स्थान तय करते समय हमें प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों के मूल स्वरों को पहचानने में किसी भी मिथ्यावाद में भटकने से बचाव की आवश्यकता है । प्रेमचन्द के पश्चात जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी व अज्ञेय प्रेमचन्द की मूल यथार्थवादी धारा से कटकर जहाँ मनोविश्लेषण का सहारा लेते हैं उनकी रचनाधर्मिता समाजोन्मुखता से व्यक्तिन्मुखता की ओर गमन करती है, बाहर से भीतर की ओर इस प्रयाण में वे चाहे-अनचाहे व्यापक सामाजिकता को नकारकर व्यक्ति विशेष के प्रेम-विवाह, श्लीलता, अश्लीलता, काम, कुंठा आदि का वर्णन करते हैं। यह एक व्यक्ति का सत्य तो हो सकता है पूरे समाज का सत्य नहीं । भैरव प्रसाद किसी भी औपन्यासिक कृति में किसी व्यक्ति विशेष को अपनी विचारधारा का मुद्दा नहीं बनाते । उनके यहाँ तो शोषितों व कष्टभोगियों का एक वर्ग है और उनकी समस्या का स्वरूप कोई दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक नहीं है।वे कभी सैक्स, कुंठा, संत्रास इत्यादि समस्याओं से घिरना जानते ही नहीं क्योंकि उनके सामने पेट पालने की समस्या मुंह बाए खड़े रहती है जो भारत की सही तस्वीर है । आज भी भारत का बहुत बड़ा जन-समुदाय फुटपाथ या झुग्गी-झोपड़ी में अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ता हुआ सूखी रोटी और दाल की कल्पना को जहाँ आभिजात्यता मानता है वहाँ जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी व अज्ञेय की आभिजात्य समस्याओं से उनका कभी सरोकार ही नहीं होता । अत: भैरव जी के पात्रों की उस यथार्थ समस्या का समाधान कोई दार्शनिकवाद या मनोविज्ञान नहीं कर सकता । वहाँ तो केवल वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष ही उन्हें अपनी सड़ांध, घुटन भरी आठ-2 इंच की कोठरी से बाहर निकाल कर स्वतन्त्र आकाश में खुली हवा में सांस व फैली हुई धरती में उन्मुक्त विचरण की स्वतन्त्रता दे सकती है ।

मनोविश्लेषणवादी विचारधारा के साथ ही समाजवादी दर्शन से प्रेरित यशपाल जी का साहित्य-जगत में अवतरण भी काफी उत्साहप्रद रहा । यद्यपि उनका अधिकांश लेखन मध्यवर्ग तक सिमटा हुआ है तथा उनकी समस्याएं

भी प्रेम, अवैध सन्तान, यौन सम्बन्धों तक ही ठहर जाती है यदि वे मध्य-वर्ग की समस्याओं से उबर पाते तो निश्चित ही उनकी रचनाओं के आयाम व्यापक हो पाते, परन्तु उनकी "शैला," "दिव्या" आदि नारियां पढ़ लिखकर स्वतन्त्र जीवन मूल्यों को जीने की आकांक्षी हैं और एक हद तक जीती भी हैं । यद्यपि यशपाल जी नारी मुक्ति का जागरण फैलाकर अपनी स्वस्थ विचारधारा का परिचय देते हैं परन्तु फिर भी एक वर्ग तक सिमटना उनकी सीमा बनकर आता है ।

"रेणु" जी तो "परती परिकथा" तक आकर प्रेमचन्दकालीन परम्परा के विकास की सम्भावनाओं को चकनाचूर ही कर देते हैं। राहुल सांकृत्यायन ऐतिहासिक सन्दर्भों का सहारा लेते हुए दलित शोषित मानवता की मुक्ति को समाजवादी दर्शन में ही सम्भव मानते हैं, उनका उद्देश्य प्रेमचन्द की भाँति ही व्यापक मानवता है, इसलिए उनकी परम्परा से कुछ अलग होते हुए भी वे उस परम्परा में ही आते हैं । अमृतराय भी उस परम्परा का युगानुकूल विस्तार करते हैं । नागार्जुन तो सर्वहारा बोध के पर्याय ही बन गए हैं । "बलचनमा" जैसे पात्रों के माध्यम से उन्होंने वर्ग चेतना का जो जीवन मंत्र फूंका वह आज भी ग्राम्य समाज में प्रेरणा बिन्दु बन सकता है परन्तु भैरव जी का "मटरू" तो "बलचनमा" से अधिक जूझारु व्यक्तित्व सम्पन्न हैं । "बलचनमा" स्वयं वर्ग चेतना सम्पन्न है परन्तु वह एक संगठन तैयार करने में सक्षम नहीं हो पाता जबकि "मटरू" अपने जेल प्रवास के समय अपने संगठन द्वारा जमींदारों के विरुद्ध मोर्चा देखकर अपने मनचाहे समाज के निर्माण की सम्भावना को साकार होते हुए देखकर अधिक जीवनेच्छा व जिजीविषा युक्त जीवन जीता है ।

प्रेमचन्दोतर उपन्यासों में भैरव प्रसाद ने अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय ग्राम्य व शहरी समाज में सर्वहारा के संकटों से संवेदनासूत्र जोड़कर अपना विशिष्ट स्थान बनाया है । इन्होंने कोई रहस्य या तिलिस्म जगाकर

पाठक समुदाय की मनोभावना को चकाचौंधित न करते हुए वर्गीय दृष्टि-कोण से यथार्थ समस्याओं का शोषक-शोषित सम्बन्धों में परस्पर विरोधी हितों को खुला रूप देकर अपनी पक्षधरता का सांगोपांग विवेचन किया है। मनोविश्लेषणवादी धारा ने जहाँ व्यक्ति के मानस में प्रविष्ट होकर उसके चेतन, अवचेतन की परतें खोलीं, समस्याओं की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक जांच प्रणाली ईजाद की वहीं भैरव जी के पात्र व्यवस्था के कुचक्र में फंसकर दिन में अट्ठारह घंटे श्रम करके भी अपने दोनों वक्त की रोजी-रोटी का प्रबन्ध करने में समर्थ नहीं हो पाते । उनके आत्म संयम को शोषक वर्ग ने मानो बिकाऊ वस्तु ही समझ रखा है, जिसे वे जब-तब चाहे खरीदते नजर आते हैं, उनका कोई भी पात्र मानसिक विकृति का शिकार नहीं है। हाँ, जब वे अपने हकों के लिए एक जुट हो जाते हैं, रोटी, वस्त्र व आवास की मांग करते हैं तब शोषक वर्ग को उनकी यह एकता अवश्य ही मानसिक विकार का कारण लग सकती है । सूक्ष्म यथार्थ के नाम पर जो अराजकता हिन्दी के वरदहस्त रचनाकार §9§ फैला रहे हैं, भैरव जी का साहित्य इन पर करारी चोट करता है।इनकी अनुभूतियां इतनी भोंथरी नहीं हैं कि ये व्यक्तिगत चिंताओं को मानवीय यथार्थ का नाम दें और फिर गहनता या व्यापकता का प्रश्न उठाकर प्रकारांतर से अपने अहं को व्यक्त करे । भैरव प्रसाद प्रेमचन्द की परम्परा का विकास करते हैं । नागार्जुन के "बलचनमा" से भी सशक्त पात्र "मटरू" की रचना करके किसानों में प्राण फूंकने का कार्य करते हैं । उनका "मटरू" होरी से दस कदम और "बलचनमा" से दो कदम आगे बढ़ा हुआ संघर्षशील, राजनैतिक, सामाजिक चेतना सम्पन्न पात्र है । डॉ0 इन्द्रनाथ मदान नें बहुत सही लिखा है : -

"गोदान का होरी मर चुका है परिस्थितियों से परास्त हो चुका है, इस तरह किसान का परास्त होना समाजवादी जीवन दृष्टि को अखरता है उसे फिर से जीवित करने के लिए "बलचनमा" की रचना की गई और "गंगा

मैया" में "मटरू" किसान को खड़ा करने का प्रयास किया गया ।"[1]

भैरव जी का अपने समानधर्मा रचनाकारों से वैशिष्ट्य इस बात में भी है कि वे शोषण के प्रतीक व्यक्तिवादी संस्थाओं का चरित्र-चित्रण करते हुए कहीं आवेश या अतिवाद के शिकार नहीं होते । वे दलित, शोषित, सर्वहारा के प्रति अपनी पक्षधरता स्पष्ट करते हुए कहीं भावुकता के शिकार नहीं होते, कहीं प्रवक्ता का रूप नहीं ग्राहण करते । एक बुजुर्ग लेखकीय आत्म संयम हर समय इनका हमजोली बना रहा जिसने इनके पात्रों के संघर्षों को सामाजिक व राजनैतिक दोनों ही पीठिकाओं पर प्रस्तुत किया । उनके पात्र जितने अधिक सामाजिक चेतना सम्पन्न हैं उतने ही राजनैतिक चेतना सम्पन्न भी । इसी सन्दर्भ में शिवकुमार मिश्र जी का वक्तव्य दृष्टव्य है —

"उनकी राजनीति जितनी साफ है रचनाओं में उसकी प्रस्तुती भी उतनी ही स्पष्ट । जहाँ वे रचना की कलात्मक क्षति के बिना अपनी आमूल बदलाव वाली राजनीतिक समझ से अपने पात्रों को लैस करते हुए अपना मंतव्य पाठकों तक पहुँचा देते हैं भारत की अपनी परिस्थितियों के सन्दर्भ में हम उसे जनवादी क्रान्तिकारी यथार्थ कह सकते है ।"[2]

---

1. डॉ0 इन्द्रनाथ मदान - आज का हिन्दी उपन्यास, पृ.- 56.
2. शिव कुमार मिश्र - प्रेमचन्द विरासत का सवाल, पृ.- 123.

अध्याय - चार

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों का आलोचनात्मक परिचय

(गंगा मैया, सती मैया का चौरा व आग और आँसू)

अध्याय - चार

(क) "गंगा मैया" उपन्यास का आलोचनात्मक परिचय

1953 में प्रकाशित "गंगा मैया" उपन्यास में भैरव प्रसाद गुप्त ने स्वातन्त्र्योत्तर भारत में 1947 से 1951 तक की राजनीतिक व सामाजिक स्थितियों का जायजा लेते हुए बलिया जिले के एक गाँव में जमींदार-कृषक संघर्ष के माध्यम से राजनैतिक समस्या तथा गोपी व विधवा भाभी के माध्यम से सामाजिक समस्या को उद्घाटित किया है इस प्रकार "गंगा मैया" में राजनैतिक व सामाजिक दोनों समस्याओं का समानान्तर रूप से विकास दिखाया गया है ।

राजनैतिक स्तर पर यह समस्या जमींदारों के अधिकारों की बपौती के अहं के खिलाफ कृषकों की उभरती चेतना के बीच उठ रहे द्वन्द्व की समस्या है । जमींदार अपनी शोषक प्रवृत्यानुसार किसानों का शोषण करते हैं, निम्न जाति के लोगों को काश्त के लिए भूमि उधार देते हैं, फलतः मनमाना लगान वसूल करके उनके रक्तहीन अस्थि पंजर को गिद्ध की

भाँति नोचते हैं।शोषण की प्रक्रिया की समाप्ति यही नहीं हो जाती बल्कि शोषण के दायरे को मजबूत और व्यापक करने के लिए लगान का एक हिस्सा सरकार को देकर उसका मुँह बाँधकर अपने पक्ष में कर लेते हैं ताकि उनके शोषण के नित नये ईजाद किए गए हथकंडो पर कोई ऐसी शक्ति हावी न हो जाए जो इनके निठल्लेपन पर कभी हल्की सी भी चोट पहुँचाए । भैरव जी ने "गंगा मैया" में सामन्ती प्रथा के खिलाफ न केवल असन्तोष बल्कि भयानक विरोध जाहिर करते हुए "मटरु" नामक चरित्र के माध्यम से कृषकों को संगठित करके सभा आयोजन से ग्राम्यजनों में वर्ग चेतना का अभ्युदय करवाया है । इसके साथ ही जमींदारों के विरुद्ध संगठित कृषक विद्रोह में आस्था व्यक्त की है । निश्चित ही "गंगा मैया" में जनक्रान्ति की एक लहर ही नहीं, अपितु गहराता, उछालें खाता समुन्द्र है । जमींदार मनमाने लगान के साथ कृषकों के लिए भूमि बन्दोबस्त करते हैं । कृषक मजबूर है, स्वयं को बेचने के लिए, क्योंकि उनके पास अपने श्रम को, अपने परिश्रमी सधे हाथों को, अपने मजबूत पावों को एवं अपने असीम धैर्य को बेचने के अलावा अन्य कुछ होता भी नहीं है । पेट की अग्नि उन्हें जमींदारों के पाँव धोने को विवश करती है, वे बिकते हैं निश्चित ही मिट्टी के मोल बिकते हैं । बदले में उन्हें कुछ मिलता भी नहीं है, वहीं अरसे से संगिनी बनी भूख ही उन्हें अपने आलिंगनपाश में बाँधे रखती है।मानो इन श्रमशील जनों व भूख का जन्म-जन्मान्तर का साथ हो । जमींदार अपने कलुषित स्वार्थों की पूर्ति हेतु हृदयहीन होकर उन्हें रक्तहीन होते हुए देखते हैं, हर्ष मनाते हैं और बड़प्पन का दम्भ भरते हैं केवल यही रिश्ता होता है शोषक और शोषित के बीच ।

भैरव प्रसाद का मटरु इस शोषण के विरुद्ध साम्यवादी चेतना से उत्प्रेरित होता हुआ ग्रामीण कृषकों को संगठित करके, आपसी मेलजोल व

विश्वास भाव जगाकर जमींदारों की शोषक प्रवृत्ति को ग्रामजनों के समक्ष उद्घाटित करते हुए उनके विरुद्ध विद्रोह की तालीम देता है । एक निपुण प्रशिक्षित गुरु की भाँति वह सभाओं का आयोजन करके विद्रोह की बारह-खड़ी सिखाता है । निश्चित ही उसका स्वस्थ प्रयास ईमानदारीपूर्ण तरीके से सफलता का वरण करता हुआ कृषकों को संगठित करके लगान पर भूमि देने की प्रथा का विरोध करवाता है । गंगा द्वारा छोड़ी गई दीयर पर वे अपना स्वयं का, सभी का हक समझने लगते हैं तथा इससे पूर्व नादानीवश दिए गए लगान की माँग करते हैं परन्तु सामन्ती शोषण की जंजीर इतनी मजबूत होती है जिसकी कड़ी दर कड़ी पकड़ में ही सहयोग करती है, सर्प के फन की भाँति आसानी से कुचलने योग्य नहीं होती । ये सामन्त सरकार के सुरक्षा विभाग को रोटी के टुकड़े का लालच देकर कुत्ते की भाँति अपने पीछे-2 दौड़ते हैं तथा अपनी मंशानुसार कार्य करने का देते हैं । सरकारी महकमा अपनी जेब गर्म करके जमींदारों की मुट्ठी में रहता है।फलत: जमींदार निरपराध "मटरु" जैसे चेतना सम्पन्न व्यक्ति को डाके के झूठे अपराध में तीन वर्ष की जेल की हवा खाने पर विवश कर देते हैं ताकि जन-चेतना को धीरे-2 जहर देकर मारने की बजाय उस मुख्य गले की नाड़ी को ही दबा दिया जाए तो चेतना का मुख्य स्रोत है परन्तु जनचेतना की एक बार उठी लहर का प्रभाव इतना अमिट था कि कृषक अपने बन्धुआ जीवन की सफरिंग से परे के वे दिन जो "मटरु" ने उन्हें दिखाये थे उनका जायका बनाए रखने के लिए वे प्राणों की बाजी लगाने को भी तैयार थे । वे संगठित रहते हैं, विद्रोह करते हैं, बेशक नेतृत्वकारी बदल गया हो, "मटरु" के स्थान पर "पूजन" आ गया । संघर्ष गतिमान रहता है।जमींदार के कारिन्दे समय-असमय आकर कृषकों को भयभीत करते हैं, धमकी देते हैं परन्तु सामन्ती मूल्यों से टकराने वाले नवीन मूल्य अपेक्षाकृत अधिक जीवन्त है, उनमें जीवट होता है इसलिए वे अपने संघर्षकाल में दीर्घजीवी साबित होते हैं । जितनी तीव्र

क्रिया अत्याचारों की होती है प्रतिक्रिया स्वरूप कृषक उतनी ही तीव्र गति से संगठित होकर विद्रोह में विजय पाते हैं डॉ0 इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं — "भैरव प्रसाद गुप्त ने नागार्जुन की तरह किसान की रूह में प्राण फूंकने का कार्य किया है । "गंगा मैया" भी इसी नयी चेतना का प्रतीक है जिसका धीरे-2 देहाती जीवन में संचार होने लगता है । इसके लिए सहकारी तथा सामूहिक खेती की योजना का समावेश समाजवादी दृष्टिकोण से अपेक्षित है ।"[1]

इस प्रकार "गंगा मैया" की राजनैतिक समस्या दो वर्गों कृषक और जमींदार के बीच अपने अधिकारों के लिए रण है । यह रण किसानों में व्युत्पन्न नये बोध, नयी चेतना का प्रतिनिधित्व करता है कि कृषक या मजदूर अब इस बात को समझने लगा है कि जब वह श्रम करता है तो उसका पेट निश्चित ही भरना चाहिए । वह मेहनत करेगा तथा अपना व अपने परिवार का पेट पालेगा ; बिचौलिये के रूप में लेन-देन करने वाली किसी भी जमींदारी या महाजनी ताकत को बर्दाश्त नहीं किया जाएगा, इस शक्ति को मिटना होगा, मिटाना होगा । हाथों के घूंसो से कहीं तो पाँवों की ठोकरों से । उपन्यास में कछारी भूमि पर कृषकों का सामूहिक अधिकार प्राप्त करना कृषकों का जमींदारों के विरुद्ध छिड़े जंग में विजयश्री प्राप्त करने का प्रतीक है। प्रकारान्तर से रचनाकार की वर्ग चेतना व वर्ग संघर्ष से युद्धक्षेत्र में विजय प्राप्त करने की आस्था के बोल उच्चारित हुए हैं ।

"गंगा मैया" उपन्यास के माध्यम से रचनाकार उस व्यवस्था पर करारा प्रहार करता है जहाँ श्रमशील का श्रम बेमोल बिकता है और खरीददार अपने महलों-दुमहलों के शयनकक्ष में सुरा व सुन्दरी के साथ विलासरत रहते हैं। इस व्यवस्था के खिलाफ अपनी जूझ में विजय के लिए मेहनतकश वर्ग के पास सांगठनिक समझ, आत्मविश्वास, धैर्य, सहनशीलता व संकल्पशक्ति ही उन्हें शोषण की जंजीरों की बेड़ियों से मुक्त कर सकती है और "गंगा मैया" का

---

1. डॉ0 इन्द्रनाथ मदान - आज का हिन्दी उपन्यास, पृ.-56.

कृषक समुदाय सामन्ती आँधियो का रूख बदलकर ऐसे समाज की स्थापना का उद्योग करता है जिस समाज में श्रम की पर्याप्त कीमत मिलेगी, व्यक्ति-2 का शोषण नहीं करेगा, व्यक्तिगत संपत्ति की अवधारणा जो मनुष्य की मनुष्यता को लुप्त कर देती है, ही समाप्त हो जाएगी । मधुकर सिंह ने भैरव जी के रचनाकर्म के साथ ईमानदारी बरतते हुए बहुत सही लिखा है कि- "भैरव जी अपने समकालीन लेखकों में सम्भवत: प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने गाँव के सामन्ती शोषण से मुक्ति के लिए संगठन और संकल्प के सवाल को उठाया है।पहली बार इस उपन्यास के माध्यम से वर्ग बोध उजागर होता है और किसानों के बीच वर्ग चेतना की पहचान भी उभरती है ।"[1]

उपन्यास की दूसरी समस्या का स्वरूप सामाजिक है जो भारतीय समाज में हिन्दु परिवार की एक वैधव्य ढो रही नारी की सामाजिक दयनीय स्थिति का मर्मस्पर्शी अंकन करते हुए अनायास ही पाठक समुदाय के समक्ष प्रश्नों की झड़ी सी लगा देता है।वैधव्य की करुणादायकता, असहायता, निरुपायता का अंकन करते हुए भैरव प्रसाद गुप्त रूढ़ियों के विरोध में नये मूल्यों की स्थापना करते हैं । बड़ी जाति में विधवा पुनर्विवाह एक अभिशाप माना जाता रहा है।परिवारजन इसे अपनी बेइज्जत का कारण मानते हैं । समाज चाहता है कि विधवा नारी आत्मसंयमी रहे, परिवार की सेवा सुश्रुषा में अपना शेष जीवन गुजार दे, उसके व्यक्ति एवं व्यवहार का चालन परिवार के बड़े-बूढ़े करें, वह स्वयं नहीं । वह बड़ों के निर्णय को स्वीकारे, स्वयं निर्णय लेने की अधिकारिणी कतई न रहे, उसकी सोच के तमाम दरवाजे बन्द हो जाए । निष्कर्षत: अपने व्यक्तित्व का लोप करके ही वह जी सकती है।इसके अतिरिक्त वह यदि कुछ सोचती है या करती है तो लोक अपवाद का का कारण बनती है।परन्तु भैरव प्रसाद गुप्त ने इस उपन्यास की रचना विधवा

---

1. सं0 - विद्याधर शुक्ल - भैरव प्रसाद गुप्त : व्यक्ति और रचनाकार.

की सामाजिक त्रासदी पर करूणा बटोरने के लिए नहीं की। इसीलिए "गंगा मैया" की गोपी की विधवा भाभी रो-धोकर जीवन गुज़ारने वाली परम्परागत विधवा की परम्परा में नहीं आती वरन् उसकी मानसिकता में निरन्तर उतार-चढ़ाव आते हैं वह द्वन्द्वग्रस्त रहकर, कदम-दर-कदम स्वयं से ही प्रश्निल होकर घरवालों का विरोध करते हुए एक चेतना सम्पन्न महिला का परिचय देती है जो अपनी सामाजिक दयनीय स्थिति के कारण रोती कलपती नहीं बल्कि क्षुब्ध रहती है । उस कुव्यवस्था के प्रति उसके मन में आक्रोश है जहाँ स्त्री व पुरुष में समान योग्यता होने पर भी पुरुष अनायास ही बल्कि विरासत के रूप में अधिकार प्राप्त करता है नारी लाख विरोध के बावजूद भी नहीं ।

भाभी नारी के इस अपमान से मन ही मन तिलमिला जाती है । कैदी देवर की पत्नी के देहान्त के तुरंत पश्चात ही पुनर्विवाह के लिए लड़की पक्ष से रिश्ता मांगने बहुत से लोग आते हैं, घर वाले भी बड़ी प्रसन्नता से विधुर लड़के का पुनर्विवाह करना चाहते हैं लेकिन अपनी विधवा बहु के पुनर्विवाह की बात सोच भी नहीं सकते । विधवा भाभी इस व्यक्तिगत दु:ख से दु:खी नहीं है कि उसका पुनर्विवाह नहीं हो रहा बल्कि इस बात से उसे आघात पहुँचता है कि एक पुरुष को यदि पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता हासिल हो तो नारी को क्यों नहीं ? उपन्यास का एक क्रान्तिकारी पात्र "मटरू" जो वर्ग संघर्ष का परचम सुनाता है, मेहनतकशों के श्रम से बहे स्वेद की गंध को उनका जीवन गान बनाता है, वही मटरू विधवा भाभी और विधुर देवर गोपी का क्रान्तिकारी ढंग से विवाह करवाकर अपनी सामाजिक प्रगतिशीलता का परिचय देता है ।

कथासम में गोपी द्वारा विधवा भाभी से विवाह के प्रस्ताव को घरवालों द्वारा ठुकराये जाने पर मटरू की मध्यस्थता से भाभी को नाटकीय ढंग से घर से गायब कर दिया जाता है तथा पूरे गाँव में भाभी की कुँए में

गिरकर मृत्यु होने की अफवाह फैला दी जाती है। गोपी किसी अन्य लड़की के रूप में मटरू के घर से भाभी को ही ब्याह कर ले आता है।तथ्य जानकर घरवाले बहुत क्रुद्ध होते हैं तथा गोपी व उसकी पत्नी (भाभी) को घर से बहिष्कृत कर देते हैं परन्तु अन्त में गोपी की माँ पुत्र व पुत्रबधु को बिरादरी का भय एक तरफ छिटकाकर घर ले आती है।संक्षेप में समस्या का यही कथ्यात्मक विवरण है ।

यद्यपि भैरव प्रसाद ने "गंगा मैया" में गोपी व भाभी का पुनर्विवाह करवाकर प्रकारांतर से सड़ी गली चरमराती मान्यताओं पर करारा प्रहार किया है परन्तु विवाह का यह रूप सर्वग्राही प्रतीत नहीं हुआ।घरवालों से विरोध और बिरादरी का विरोध मटरू व अन्य साथियों के सहयोग से किया जाता तो अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता । भाभी को घर से गायब करना, पुन: बहु के रूप में भाभी को ही ब्याह कर लाना कुछ-2 नाटकीय सा प्रतीत होता है । द्वितीय इस समस्या का समाधान देवर से विवाह बंधन में बंधकर हो गया ; परन्तु देवर के साथ विवाह के अलावा और क्या विकल्प हो सकता था किसी ग्रामीण विधवा महिला के लिए ? यह प्रश्न अनुत्तरित है । विधवा भाभी अपनी स्थिति से संघर्ष करती, पढ़ना शुरु करती, अपने व्यक्तित्व का विकास करती तो अधिक बेहतर स्थिति थी अन्यथा सहारा फिर एक पुरुष का ही देखा और अपने को चालित करवाने की शक्ति पुरुष में ही ढूँढती है । इससे नारी सुखी अधिक, स्वतन्त्र कम हुई है और भाभी का नारी स्वातन्त्र्य के लिए, पुरुष से समानाधिकार के लिए प्रश्निल मन को शायद इस विवाह से कोई जबाब नहीं मिला हो । हाँ, इतना हो सकता है कि व्यक्तिगत संतुष्टि के कारण भाभी के मन ने स्वयं से प्रश्न करने छोड़ दिये हों, जैसा अक्सर होता है । फिर भी ग्राम्य जीवन की सीमाओं एवं आपाधापी को देखते हुए पुनर्विवाह का कदम उठाना भी अपने आप में एक लघु क्रान्तिकारिता ही कही जाएगी ।

भाभी विधवा होने पर रूढ़ मान्यताओं और दकियानूसी विश्वासों के मध्य स्वयं को घुटते हुए तो महसूसती है परन्तु पूरे उपन्यास में विधवापन के पश्चात कोई महत्वपूर्ण गत्यात्मक कदम उठाना तो दूर की कौड़ी कभी सास-ससुर से अपनी स्थिति से असन्तुष्ट होकर वाद-विवाद नहीं करती, तर्क नहीं रखती, अपनी बात पर बल देकर पुष्टि नहीं करवा पाती । वह निष्क्रिय रहती है, टूटी डाली की माफिन्द अपने सहारे के लिए किसी मजबूत वृक्ष सा आसरा ढूँढती है । यह निष्क्रियता, गतिहीनता उसे अबला का रूप देकर ही छोड़ती है जो पाठक को कहीं चुभ जाती है ।

उपन्यास में एक अन्य पात्र "बिलरा" काफी जीवन्त व्यक्ति है। वह मटरू की ही भाँति अपने सधे प्रगतिशील विचारों के कारण काफी प्रभावित करता है। उसकी सोच व्यक्ति केन्द्रित नहीं है। जीवन की प्रत्येक घटना में उसकी मानसिकता उधेड़ बुन करती रहती है। वैचारिक संघर्ष मानो उसका जीवन धर्म बन गया हो । वह चाहता है कि समाज का प्रत्येक प्राणी सजग होकर अपनी मानसिकता को खुला रखकर कुछ ग्रहण करते हुए, कुछ छोड़ते हुए जीए । भाभी इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती । वह अपनी स्थिति से असंतुष्ट होकर कुढ़ती है, आवेश में आकर घर का काम-काज छोड़कर अपना गुस्सा प्रकट करती है परन्तु अपने असन्तोष की अभिव्यक्ति का कोई स्वस्थ, सन्तोषजनक तरीका वह नहीं ढूँढ पाती और ना ही प्रयास करती है । हिम्मत, जिन्दादिली व उत्साह का यही अभाव पाठक को खटकता है ।

निष्कर्षत: शोषण पर आधारित सामन्ती कुव्यवस्था पर श्रमशील कृषकों की विजय का डंका बजाने का उत्साह इस लघु उपन्यास में बड़े ही क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित तरीके से व्यक्त हुआ है। साथ ही साथ रूढ़िबद्ध संस्कारों व कुरीतियों के विरुद्ध प्रगतिशील कदम उठाने की मानसिकता पैदा करने का प्रतिनिधित्व करता है । उपन्यास में समाजवादी चिन्तन स्पष्ट है । "मटरू" द्वारा सिखाई गई वर्ग चेतना की बारहखड़ी को शोषित कृषक गहरे जेहन में

उतार लेते हैं तथा क्रान्ति का एक लघु अध्याय लिख डालते हैं । दूसरी तरफ गोपी व विधवा भाभी के विवाह से विरादरी विद्रोह का डंका बजाकर उस कुरीति पर प्रहार करता है जिसका फैलाव एक व्यक्ति तक नहीं, समाज-व्यापी है। निश्चित ही भैरव जी की लेखनी जन-जन की लेखनी है। "गंगा मैया" इसका सटीक उदाहरण है।उपन्यास में कोई भी ऐसा चरित्र विशेष स्थान नहीं पाता जो आराम तलब हराम जीवन जीता है, अपनी अट्टालिकाओं में सुरा व सुन्दरी का उपभोग करते हुए तमाम ताम-झाम के साथ और पैसे में आकंठ पैठे हुए अपने साथियों के जमघट में ठहाके लगाते किसी गैरसंवेदनशील व्यक्ति की भावना या उसके पेट की मोटाई से उसकी योग्यता का अंकन करना भैरव प्रसाद की लेखनी का धर्म नहीं है बल्कि युगों से शोषित, दलित पीड़ित वे जन जो दिन-रात श्रम करके भी जठराग्नि को शान्त नहीं कर पाते हैं, जिनके बाल-बच्चे आठ-आठ, दस-दस साल के होकर भी नंगे घूमते हैं । पावों में जूतों की कल्पना तो उनके लिए आभिजात्यता ही है । ऐसे ही चरित्र भैरव जी को लिखने के लिए बाध्य करते हैं । "गंगा मैया" इन्हीं भूखे, नंगे व पीड़ितो के अधिकारों की माँग करता है । इस माँग को पहले प्रेमचन्द ने भी उठाया था, नागार्जुन तो दलितों की लेखनी का पर्याय ही बन गए हैं फिर भी भैरव जी की अपनी अलग ही पहचान है ।

"गोदान" का "होरी" सामन्ती बिजलियों का मुकाबला करने में सक्षम नहीं है, वह उसकी चिलचिलाहट के समक्ष टूट जाता है, गम खा लेता है, परन्तु विद्रोही चेतना नहीं जगा पाता । स्वयं का भरपूर शोषण करवाना ही मानो उसकी नियति हो । पंच, दारोगा, महाजन व जमींदार सभी उसका खून चूसते हैं।शोषण का विरोध न करके वह निरन्तर उत्पीड़न को बढ़ावा देता है । "होरी" का ठहराव नागार्जुन के "बलचनमा" में नहीं है। "बलचनमा" वर्ग चेतना सम्पन्न, सांगठनिक चेतना से चालित है । वह जमींदारी व्यवस्था समाप्त करके धरती को जोतने, काटने वाले की बनाना

चाहता है। "बलचनमा" की चेतना विद्रोही अक्षय है परन्तु वह भी वह चिंगारी फूंकने में सक्षम नहीं हो पाता जो हवा के एक झोंके से अग्नि की लपट बन जाए । "बलचनमा" का विद्रोह अपना व्यक्तिगत विद्रोह तो है परन्तु विद्रोहियों की टीम तैयार नहीं कर पाता, अपने पीछे संघर्षशील नेतृत्वकारी शक्ति को तैयार नहीं कर पाता । जब तक अनुगामी शक्ति तैयार न हो तब तक विद्रोह की सफलता की सम्भावना पर संदेह किया जाता है । एक व्यक्ति पर आश्रित विद्रोह उस व्यक्ति की अनुपस्थिति में टूट सकता है, खंडित हो सकता है, क्योंकि उस विद्रोह के पीछे धधकती हुई विस्फोटकारी चेतना न होकर एक व्यक्ति विशेष का प्रभाव होता है। यह विद्रोह बांझ होता है जो अपने से विद्रोह का प्रसव नहीं कर पाता । "गंगा मैया" का मटरू अपनी चेतना से हजारों विद्रोह के कीटाणु छोड़ता है जो उस विनाशकारी व्यवस्था को कुचलने के लिए कदम-दर-कदम आगे बढ़ते हैं ।

सारत: प्रेमचन्द ने अपने पश्चात जो परम्परा छोड़ी भैरव जी उसी परम्परा की श्रीवृद्धि करने वाले रचनाकारों में अपना अहम् स्थान रखते हैं। मुख्य यह नहीं होता कि हमने अतीत से कितना ग्रहण किया है, मुख्य यह होता है कि हमने वर्तमान का बोध करते हुए विरासत को सहेजते हुए युगानुसार मांगों की संवृदना की है या नहीं । प्रेमचन्द की मानसिकता में अन्तिम समय तक जाते-जाते जो परिवर्तन आता है, भैरव प्रसाद के रचनाकर्म की शुरुआत ही वहीं से होती है । प्रकारांतर से प्रेमचन्द की मंशा को भैरव के उपन्यास स्पष्ट और क्रियात्मक रूप प्रदान करते हैं । प्रेमचन्द के रास्ते का अन्तिम पड़ाव भैरव जी की रोजमर्रा की पगडंडी है, जिस पर वे चल रहे हैं । जहाँ एक सामान्य आदमी की पीड़ा के प्रति दु:ख और पीड़ा के जन्मदाता के प्रति आक्रोश है, वह उनका स्वयं का व्यक्तित्व है । भैरव प्रसाद निश्चित ही प्रेमचन्द की परम्परा से आबद्ध हैं । साथ ही युगबोध

से उन्होंने जो कुछ जोड़ा है, बढ़ाया है, वही उनकी विशिष्टता है, सार्थकता है । जहाँ वे प्रेमचन्द से अलग-थलग अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखते हैं, वह प्रेमचन्द से उनकी परिस्थितियों में आया बदलाव है तथा उनकी युग चेतना का परिचय । क्योंकि रचनाकार कितना ही परम्परा को सहेजे, अपने समय की परिस्थितियों को वह विस्तृत नहीं कर सकता । "रमेश उपाध्याय" इसी तथ्य की पुष्टि में अपना वक्तव्य देते हुए लिखते हैं – "कोई व्यक्ति कितना ही महान क्यों न हो, उसका व्यक्तित्व और कृतित्व कितना ही युगांतरकारी क्यों न हो, वह अपने समय और समाज तथा वर्ग शक्तियों से पृथक स्वतन्त्र या परे नहीं होता, जो उसके व्यक्तित्व निर्माण में असंदिग्ध ऐतिहासिक भूमिका निभाती है ।"[1]

(ख) "सती मैया का चौरा" का आलोचनात्मक परिचय

पराधीन भारत की तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक व आर्थिक परिस्थितियों से स्वातन्त्र्योत्तर भारत की 1951 तक की समस्त परिस्थितियों, विशेष रूप से भारत में सामन्तवाद और पूँजीवाद के अन्तर्विरोध, साम्प्रदायिक विद्वेष तथा भ्रष्ट सरकारी संस्थानों के मानव विरोधी आचरण, रिश्वतखोरी, जातीय भावनाओं का विकराल रूप, शैक्षणिक संस्थानों में राजनैतिक गुटबाजी से पनपे विद्वेष एवं पण्डे पुरोहितवाद की सादगी में छिपे कलुष रूप की कलई खोलते हुए भैरव जी का यह वृहद उपन्यास समस्याओं को बहुआयामी चित्रण करते हुए हिन्दी में विशेष ख्याति प्राप्त किए हुए है ।

जमींदार-किसान सम्बन्धों से उनके वर्गीय हितों की दृष्टि से तीन पीढ़ियों के मध्य चल रहे संघर्ष का वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष के स्वरों में स्पष्ट

---

1. नया पथ - जनवरी-मार्च, 1987, पृ॰- 44.

किया है । जमींदार सुगन्धीराय अपने लठैतों और कारिन्दों के बल पर किसानों से मनमाना लगान वसूल करना चाहता है । किसानों द्वारा विरोध करने पर संघर्ष छिड़ता है । गुलाम हैदर के नेतृत्व में समस्त जातियों, धर्मों व सम्प्रदायों के लोग अपने व्यक्तिगत वैमनस्य को भुलाकर एकत्र हो जाते हैं क्योंकि उस संघर्ष के समय एक बड़ी अत्याचारी ताकत से मुकाबला लेना उनका महत उद्देश्य बन जाता है । वे अपनी शोषण की पहचान कर स्वचालित रूप से अपने व्यक्तिगत वैमनस्यों को दर किनार कर एक हो जाते हैं । गुलाम हैदर के नेतृत्व में हुए संघर्ष का वही परिणाम रहता है जो एक वर्ग चेतना सम्पन्न समुदाय अपने गैर मुनासिब शोषण से पीड़ित होकर सच्चे दिल और ताकत एक जुट होकर किसी भी परजीवी ताकत का परिणाम रहता है । सुगन्धीराय विवश होकर ज्वार गाँव को अपनी लड़की को दहेज में दे देता है ताकि बला से उसका पीछा छूट सके । इसी संघर्ष से बचने के लिए गाँव का काजी के हाथ में एक बार पुन: विक्रय होता है, परिणाम-स्वरूप गुलाम हैदर की काजी से ठन जाती है परन्तु अन्त में निरीह गुलाम हैदर मृत्यु को प्राप्त होता है।हर्ष इस बात का है कि गुलाम हैदर के साथ ही वर्ग संघर्ष की इतिश्री नहीं हो जाती । वर्ग संघर्ष के पीछे पूरे वर्ग का हाथ होता है।एक जीवन्त शक्ति के मारे जाने पर प्रतिक्रियावश सो शक्तियों का स्वत: ही उदय हो जाता है।गुलाम हैदर की मृत्युपरान्त उसका लड़का "लुत्फेहक" नेतृत्वकारी बनकर गाँव को विजयश्री दिलवाता है ।

इस प्रकार भैरव प्रसाद ने "सती मैया का चौरा" उपन्यास में तीन पीढ़ियों के मध्य चल रहे वर्ग संघर्ष और वर्ग चेतना के आलोक में प्रकाशित करके वर्ग चेतना द्वारा ही शोषण, उत्पीड़न से मुक्ति में विश्वास व्यक्त किया है।भैरव जी वर्तमान व्यवस्था से विश्वास का नाता तोड़ कर समाजवादी दर्शन के कायल हैं।उन्होंने देखा है कि स्वतन्त्रतापूर्व के भारत और स्वातन्त्र्योत्तर भारत में सत्ता परिवर्तन हुआ है।कहने को भारत गुलामी से

मुक्त हुआ है परन्तु किसानों की दशा आज भी वैसी ही बनी हुई है, जमींदारी प्रथा का अन्त तो हो गया परन्तु जमींदारी शोषण के पुराने हथकंडे आज भी कायम है । उपन्यास का एक सशक्त चरित्र "मन्ने" इसी सत्य को स्पष्ट करता हुआ कहता है – "आजादी के बाद जो उम्मीदें वे बांधे हुए थे, उनमें क्या एक भी पूरी हुई है ? ••• तुम किसी भी किसान या मजदूर को ले लो उसके घर जाकर देखो, उसके तन के कपड़े देखो, उससे पूछकर समझो कि उसमें क्या परिवर्तन आया है ? जमींदार न रहे तो अब स्थानीय कांग्रेसी नेताओं ने उनकी जगह ले ली है और किसानों पर वे उन्हीं की तरह हुकूमत करते हैं ।"[1] अत: रचनाकार के अनुसार यूँ टुकड़ा-टुकड़ा विरोध और संघर्ष अधिक असरदार साबित नहीं हो सकता । आमूल परिवर्तन तो इस व्यवस्था की नीति में परिवर्तन करने से ही सम्भव होगा । पूँजीवादी सरकार किसानों, मजदूरों के हितों के लिए कभी चिन्तित नहीं होगी । शोषण के खात्मे के लिए मजदूरों, किसानों की सरकार बननी आवश्यक है ।

एक तरफ उपन्यास में जमींदार-किसान सम्बन्धों के अन्तर्विरोध दृष्टव्य है तो दूसरी तरफ पूँजीवादी व्यवस्था में व्युत्पन्न मजदूर - मालिक संघर्ष । "मन्ने" के नेतृत्व में प्रेस मजदूर अपने हालात बेहतर करने के लिए हड़ताल की घोषणा करते हैं । पूँजीवादी व्यवस्था व्यक्ति को भौतिक सुविधाओं के लालच में फांसकर किस तरह निष्क्रिय व उन्हीं के हितों का पुर्जा बनाने हेतु आमादा है इस तथ्य को "मुन्नी" प्रेस मालिक द्वारा दिए गए प्रलोभनों से भलीभाँति भाँप लेता है । पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति एक औजार है जो धनिकों के हितों हेतु चालित होता है। धनिक उसे तेल,

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ॰- 591-592.

ग्रीस, मसाला लगाकर अधिक से अधिक अपने हित में प्रयुक्त करता है। व्यक्ति की इससे अधिक वहाँ कोई कीमत नहीं है । डॉ0 पी0के0 पद्मजा के शब्दों में —"स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सरकार ने जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन किया । लेकिन आधुनिक भारत में औद्योगिक विकास के फलस्वरूप तीसरे शोषक वर्ग, पूँजीपति वर्ग का आविर्भाव हुआ । प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में भी इस वर्ग संघर्ष का चित्रण हुआ है। स्वातन्त्र्योत्तर युग के उपन्यासों में किसान आन्दोलन की अपेक्षा मजदूर आन्दोलन को अधिक महत्त्व दिया गया है ।"[1]

सामन्तवाद और पूँजीवाद के अन्तर्विरोध के अतिरिक्त उपन्यास में एक महत्त्वपूर्ण ज्वलन्त समस्या का अंकन हुआ है। वह है साम्प्रदायिकता की समस्या । आजादी के पूर्व के जमींदार जो स्वतंत्रता के पश्चात नेता बन गए, वे इन जनसंघर्षों को विचलित और पथभ्रष्ट करने में पूरे सिद्धहस्त हैं। यही सत्ताधारी गाँव में सम्प्रदायों के नाम पर हिन्दू-मुस्लिम दो गुट बनाकर अपने स्वार्थ सीधे करते हैं । किसानों द्वारा संगठित होकर चलाए गए शिक्षा संस्थान 1500 रू0 की सहायता मिलती हुई देखकर प्रबन्ध मण्डल में अपना हिस्सा बटाने की गर्जवश चुनाव लड़ते हैं । चुनाव हारने के कारण अपने मन्सूबों पर पानी फिरता जानकर किसान संगठन को विश्रृंखलित करने हेतु साम्प्रदायिकता का विष वमन करवाते हैं। फलत: विद्यालय शैक्षणिक संस्था न रहकर राजनैतिक कुचालों का अड्डा बन जाती है, जहाँ छात्र भी चाहे-अनचाहे राजनीतिक दाँवपेचों के शिकार होने को विवश होते हैं । "रहमान" के घर के एक टुकड़े जमीन को लेकर "सती मैया के चौरा" में शामिल करने की बात साम्प्रदायिक विद्वेष की अग्नि भड़काती है ।

---

1. डॉ0 पी0के0 पद्मजा - हिन्दी उपन्यास साहित्य पर वैचारिक आन्दोलनों का प्रभाव, पृ॰-139.

कथासम में रहमान द्वारा अपनी जमीन पर बनायी गयी दीवार रातों-रात तोड़ कर उस जमीन पर पहले से टूटे-फूटे सती मैया के चौरे को बड़ा और पक्का बना दिया जाता है । अब रहमान के समर्थक मुस्लिमों एंव साम्प्रदायिकता से प्रेरित कट्टर हिन्दूओं के मध्य शुद्धत: साम्प्रदायिक संघर्ष शुरु होता है । गाँव के शिक्षित जन भी हिन्दू-मुसलमान के नाम पर लड़ते हैं।अन्त में गाँव वालों को एकत्र करके पंचायत के फैसले को अन्तिम माना जाता है । सती मैया के चौरे को लेकर छिड़े विवाद के माध्यम से उपन्यासकार ने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की ओछी छवियों को अंकित किया है। यद्यपि गाँव में वर्ग चेतना सम्पन्न जनमानस पंचायत के निर्णय को अन्तिम ठहराकर जनवादी हकों में विश्वास व्यक्त कर देते हैं फिर भी सत्ताधारी अपनी दुधारी तलवार को पैना कराने का जब-तब मौका ढूँढते ही रहते हैं। मिट्टी से बने सती मैया के चौरे पर आँच न आने देने की भावना लेकर हिन्दू मरने-मिटने को तैयार हैं तो मुस्लिम रहमान के घर की एक टुकड़ा जमीन को अपनीईज्जत का कारण मान लेते हैं । भोली-भाली हिन्दू जनता को "सती माता के चबूतरे" के नाम पर भड़काया जाता है । मासूम जनता सत्ताधारियों की गन्दी राजनीति से अनभिज्ञ रहते हुए उसे धर्म का मसला मानकर अपनी अन्धी धार्मिक भावनाओं को उभारकर जान देने को तैयार हो जाती है । शासक वर्ग के इन्हीं अनैतिक कृत्यों की पहचान करते हुए भगवतशरण उपाध्याय ने "सती मैया का चौरा" के सम्बन्ध में लिखा है — "गाँवों के महाजन और चतुर बेठकबाज हिन्दू और मुसलमान, जमींदार और रैयत, अंग्रेजी और कम्यूनिस्ट सबों का चित्रण लेखक ने भरपूर आस्था से किया है और यह भी दिखाया है कि किस तरह आज का शासक वर्ग अनैतिक जरियों से सत्य का हनन कर गाँव के कर्मठ जीवन में कुंठा उत्पन्न कर रहा है ।"[1]

---

1. डॉ० भगवतशरण उपाध्याय - आज (साहित्य विशेषांक), 1960.

सरकारी संस्थानों में व्याप्त भ्रष्टाचार की झलक हम मन्ने के केन-इंस्पेक्टर बनने की घटना के माध्यम से देख सकते हैं।इस दौरान मन्ने का ईमानदार व्यक्तित्व भौतिक सुविधाओं के लालच मे द्वन्द्व की प्रक्रिया से गुजरता है।अन्त में "मन्ने" अपने आदर्शों का परित्याग करके अन्य सभी भ्रष्ट अफसरों के साथ चाय, नाश्ता, सिगरेट, होटल में खाना, प्रथम श्रेणी से यात्रा करना, मुजरों इत्यादि में जाना शुरु कर देता है।और तो और पाँच मिलों से प्रतिमाह रिश्वत के रूप में जो चीनी की बोरी वसूल की जाती है उस सम्बन्ध में मन्ने चीनी की बोरी के बदले रू० लेना चाहता है तथा स्पष्ट मांग करता है — "चीनी का बोरा मैं कहाँ ढोकर ले जाऊँगा ? क्या इसके एवज में रुपये नहीं मिल सकते ।"[1] इस घटना के माध्यम से उपन्यासकार ने मध्यवर्गीय व्यक्ति की उस त्रासदी को अभिव्यक्ति दी है जो भीतर से विलासी होने के कारण भौतिक सुख सुविधाओं के समक्ष घुटने टेक कर अपने ईमान, आदर्शों, नैतिकता की बलि दे देता है।उसके व्यक्तित्व का ढुलमुलपन व्यवस्था के प्रति विरोधी आचरण को चाँदी के टुकड़ों के लालच में दूर ले जाता है ।

इन सबके अतिरिक्त उपन्यास में भैरव जी ने कांग्रेस, जनसंघ व मुस्लिम लीग की नीतियों को स्पष्ट करते हुए स्वतन्त्रता के पश्चात कांग्रेस की स्वार्थी नीति को उजागर करके भविष्य में जनता के हितों की रक्षा हेतु चिन्ता की असम्भावनाओं पर गौर करके वर्तमान हालत में जनता में चेतना उत्पन्न करने का प्रयास किया है।अन्य समकालीन रचनाकारों जैसे नागार्जुन, अमृतराय की भाँति सीधे-सीधे कांग्रेस के भ्रष्ट आचरण को स्पष्ट करते हुए देश के हालात को आमूल बदलने हेतु कम्यूनिज्म की आवश्यकता पर बल दिया है । भैरव जी का मत है कि कांग्रेस, जनसंघ सभी अपने स्वार्थों पर आधारित राजनैतिक दल

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ०- 474.

अपने हितों से चालित होकर ग्रामीण विकास हेतु मिले साधनों का दुरुपयोग करते हैं । कांग्रेस की योजनाओं के बीच में ही भ्रष्ट हो जाने का कारण प्रस्तुत करते हुए भैरव जी लिखते हैं — "बीज मिलता है परन्तु खेत में न जाकर स्वार्थियों के पेट में जाता है, सभापति के घर रेडियो बजता है, पंचायती कार्यक्रम चलता है परन्तु सुनने वाला कोई नहीं । अखबार और न जाने कितना साहित्य आता है ··· पंचायत का सेक्रेटरी उसको बटोर कर बनिये के यहाँ बेच आता है ।"[1]

उपन्यास में साम्यवादी चेतना सम्पन्न "मन्ने" और "मुन्नी" कांग्रेसी एवं जनसंघी नेताओं की कुचालों से गुमराह जनता को वाकिफ कराते हैं । उपन्यासकार में वर्ग चेतना सम्पन्न चरित्रों "मन्ने" और "मुन्नी" की सर्जना से वर्ग चेतना को व्यापक स्वरूप ग्रहण करते हुए दिखलाकर वर्ग संघर्ष द्वारा वर्तमान व्यवस्था का तख्ता उलटने के स्वप्न देखे हैं । डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त का मत काफी सटीक बन पड़ा है — "परम्पराओं के तथाकथित जनसंघी और कांग्रेसी गाँव में स्कूल, सहकारी फार्म बिजली एवं अन्य साधनों को विकसित नहीं होने देते । मन्ने और मुन्नी प्रगतिशील हैं वे नये जमाने की करवट को पहचानते हैं और तो और मन्ने के वैयक्तिक प्रभाव के कारण जुब्बली मिंया जैसे कट्टर जमींदार सहकारी फार्म के लिए जमीन ही नहीं देते, आर्थिक सहायता भी देते हैं ताकि ट्रैक्टर आ सके और खेती का कार्य सुचारु रूप से चल सके ।"[2]

अन्त में रचनाकार ने इन समस्याओं का विश्लेषण करते हुए समाधान स्वरूप वर्ग चेतना एवं वर्ग संघर्ष के माध्यम से साम्यवादी व्यवस्था की

1· भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ·-624.
2· डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त - स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ·- 186.

स्थापना हेतु जन चेतना फैलाने का, "मन्ने" और "मुन्नी" जैसे कम्युनिस्ट चरित्रों की रचना करके प्रकारान्तर से आह्वान किया है । उपन्यास में "मन्ने" के चरित्र में नैतिक डिगाव से सम्बन्धित कई किस्से हैं जैसे नौकरानी बसमतिया से शारीरिक सम्बन्ध, पत्नी महरार की छोटी बहिन आयशा से भी गुप-चुप प्रेम सम्बन्ध में प्रगाढ़ता, केन इंस्पेक्टर बनने के दौरान अपने आदर्शों का परित्याग कर रिश्वतखोरी शुरु करना एवं गांव में दो-तीन हथकरघे चलवाकर छोटा पूँजीपति बनकर शोषण की प्रक्रिया में शामिल होना, नैतिक डिगाव ही कहा जाएगा । परन्तु भैरव जी का उद्देश्य इन घटनाओं को तूल देकर सामाजिक विडम्बना को चित्रित करना न होकर व्यवस्था के प्रति व्यापक बाहरी संघर्षों को झेल रहे पात्रों के भीतरी संघर्षों का भी चित्रण करके जीवन की तमाम विभीषिकाओं जैसे व्यापक मानवता के प्रति संघर्ष, आर्थिक संकट, पारिवारिक जीवन की समस्याएँ एव काम तथा भोग की समय-असमय बलवती होने वाली ईच्छाओं के दमन और प्रस्फुटन के मध्य पात्र की मानसिकता कितनी सन्तुलित रह पाती है और कितनी असन्तुलित, इसका प्रसंगवश चित्रण करते हुए रचनाकार ने अन्ततः अपना उद्देश्य वर्ग चेतना के सामूहिक संघर्ष द्वारा साम्यवाद की स्थापना में आस्था रखी है । डॉ० महावीरमल लोढ़ा ठीक ही लिखते हैं —"स्कूल और सती मैया का चौरा तो संघर्ष की एक मंजिल है और साम्प्रदायिक संघर्ष से गाँव में साम्यवादी समाज स्थापित करने की कल्पना इस उपन्यास का लक्ष्य है, इसीलिए यह निश्चित रूप से समाजवादी उपन्यास है ।"[1]

यद्यपि रचनाकार ने वर्ग चेतना एवं वर्ग संघर्ष के मध्य आने वाले स्वार्थ जनित संकटों का चित्रण करके कोरे भावुकतावाद से बचने का हर सम्भव प्रयत्न किया है।मन्ने पर शारीरिक प्रहार करके प्रतिक्रियावादी ताकतें उस

---

1. डॉ० महावीर मल लोढ़ा - हिन्दी उपन्यासों का शास्त्रीय विवेचन, पृ०- 109.

स्रोत का ही अन्त कर देना चाहती हैं जहाँ से वर्ग चेतना का अजस्र झरना प्रवाहित होता है परन्तु निरन्तर प्रवाहमान इस धारा का वेग कम या अधिक तो किया जा सकता है।जिसको एक बार बह निकलने का रास्ता मिल गया है उसकी प्रकृति का दमन नहीं किया जा सकता । एक मार्ग रोकने पर दूसरे मार्ग का अन्वेषण वह स्वयं ही कर लेता है क्योंकि उसमें बहने की ताकत होती है, विवरण करने का जोश होता है तभी तो "मैं मरूँगा नहीं सभापति जी" मन्ने द्वारा उपन्यास के अन्त में कहे गये शब्द केवल मन्ने के ही नहीं एक पात्र विशेष के नहीं अपितु जुझारु वर्ग चेतना सम्पन्न पूरे उस वर्ग की आस्था, विश्वास व संघर्षों के मूल में पैदा हुई बुनियादी टंकार है ।

§ग§ "आग और आँसू" उपन्यास का आलोचनात्मक परिचय

1982 में प्रकाशित "आग और आँसू" का प्रत्येक पात्र पुरानी जंजीरों को तहस-नहस कर नये मूल्यों के आग्रह के साथ जीवन जीने का प्रयत्न करता है, स्वयं को अपने पुराने स्वरूप से सुधारता है, नयी पीढ़ी का नया जाग्रत इन्सान बन जाता है और प्रत्येक पात्र अपनी परिवर्तित हो रही मानसिकता की अनुभूति से आल्हादित होता है । मूलत: विवेच्य उपन्यास में अंग्रेजी राज्य के शोषण के अनवरत चक्र में पिसते हुए निरुपाय, असहाय ग्राम्य जीवन की करुण कथा को प्रतिबिम्बित किया गया है । ध्यान देने की बात यह है कि उत्तरी भारत के किसी गाँव की स्वतन्त्रता के पश्चात की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थितियों को उसकी समग्रता में चित्रित करते हुए भी यह उपन्यास किसी खास परिवेश या खास भूगोल विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता अपितु स्वतन्त्रता के पश्चात के प्रत्येक गाँव की सच्चाई का अगुवा है।उन गाँवों की सच्चाई का अगुवा जो वैधानिक

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भी व्यवहारिक रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर पाए, भीषण बर्बर यातनाओं से मुक्ति के लिए जिनका संघर्ष निरन्तर गतिमान है।"शिवकुमार मिश्र" ने "भैरव प्रसाद गुप्त : व्यक्ति और रचनाकार" में स्पष्ट करते हुए लिखा है — "जबकि प्रेमचन्द की ही तरह भैरवप्रसाद गुप्त ने केन्द्रीयता उस मनुष्य को दी है, उस साधारण जन को दी है जो अपने सुख-दुख, हर्ष-विषाद, सपनों और संघर्षों के साथ किसी जमीन पर जीता और मरता है ; इसी मनुष्य को उसकी प्रतिनिधि सच्चाइयों के साथ सामने लाना प्रेमचन्द और भैरवप्रसाद का लक्ष्य रहा है और इसीलिए वे तथाकथित आँचलिकता की सीमाओं को तोड़ते हुए, एक खास जमीन की कहानी कहते हुए भी उसका अतिक्रमण करते हैं ।"[1]

साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और महाजनवाद आदि व्यक्तिवादी संस्थाएं शोषित, दलित, श्रमिक के खून-पसीने की नींव पर अपना अस्तित्व कायम किए हुए हैं।इनके शोषण के नित नये खोजे जा रहे हथकण्डों ने उपेक्षित जन सामान्य में जनवादी चेतना का व्यक्ति-व्यक्ति में स्फुरण किया है। इसीलिए "आग और आँसू" का प्रत्येक शोषित पात्र अपनी स्थिति को लेकर प्रश्निल है, अपनी भुखमरी, गरीबी उसमें निष्क्रियता नहीं अपितु बेचैनी और विद्रोह के भाव पैदा करती है।तभी तो उपन्यास की एक सशक्त पात्र मुँदरी, जो लौंडी है, वह अपने लौंडीपन को अपना भाग्य न मानकर लौंडीपन के लिए द्विधाग्रस्त है। वह अपनी माँ के अतीत और बेटी सुनरी के भविष्य के लिए चिन्तनशील है।वह इस तथ्य को जान गयी है कि उसकी माँ, उसके स्वयं तथा उसकी पुत्री के लौंडीपन का कारण भाग्य विधान न होकर सामन्तों की भोगी और परजीवी प्रवृति है । बंधुआ दास "चतुरिया" अपने असन्तोष एवं विद्रोही भाव को स्पष्ट करता हुआ कहता है — "जिस पानी से रात भर उसे तरी

---

1. सं0 विद्याधर शुक्ल - भैरवप्रसाद गुप्त : व्यक्ति और रचनाकार, पृ.- 171.

मिलेगी उसमें कितना हमारा पसीना ... ।"[1] चतुरिया का यह विद्रोही चेतना सम्पन्न वाक्य सामन्ती जीवन की नृशंसताओं, कृत्रिमता एवं यातना-दायक रूप को स्पष्ट करता हुआ यातनाभोगी समूह में विस्फोट कर रही चेतना का परिचय देता है । प्रतीत होता है कि सामन्ती शोषण के विरुद्ध एक जोड़ होकर शोषित समूह समान विचार रखे तो यह शोषण इतिहास की वस्तु बन जाएगा । केवल मुंदरी और चतुरिया ही नहीं अपितु महाराजिन, बदमिया व सुनरी सभी बड़े सरकार की कामाग्नि जो पर्यंक पर नित नयी सुन्दरियों को बदल-बदल कर इस्तेमाल करने को आतुर है उसका भण्डाफोड़ करना चाहती है।निरन्तर बेजुबान गूँगी लौंडिया बदले पर उतारु होकर अपना भीतरी उबाल व्यक्त करती है।निश्चित ही यह गुलामी की जंजीरों के प्रति अनास्था, विद्रोह की भावना है जो बन्धन तोड़कर जनवादी हकों की प्राप्ति हेतु संघर्ष पर आमादा है।यह वह आवाज है जो निरन्तर शोषण की भीषणतम अति से स्वत: स्फूर्त होती है,अति का दर्द जहाँ स्वयं दवा बन जाता है।यही दोहन की चरमसीमा विरोध को जन्म देती है । इस उपन्यास का प्रत्येक पात्र मानो उस ऐतिहासिक प्रक्रिया से गुजर रहा हो । लौंडी हो या रानी, दास हो या सरकार का स्वयं का पुत्र, दुकानदार या कृषक सभी के मन में अपनी स्थिति से असन्तुष्टि है,सभी भयंकर भीतरी विद्रोह से गुजर रहे हैं ।

उपन्यास की मुख्य कथा के रूप में कहानी सामन्त ही हवेली की चारदीवारी के भीतर व प्रासंगिक रूप से हवेली के इर्द-गिर्द बाहर चारों ओर के वातावरण से चालित है । पानकुँवरि बड़े सरकार की ब्याहता है परन्तु वह कुंवारेपन से ही अपने मौसेरे भाई राजेन्द्र के दोस्त रंजन के प्रेमपाश में आबद्ध है।ताल्लुकेदारी अहं का शिकार हो जबरदस्ती वह बड़े सरकार से ब्याह दी जाती है परन्तु पानकुँवरि अपने प्रेमी रंजन को एक पल भी विस्मृत

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ॰- 2 .

नहीं कर पाती और इसी के परिणामस्वरूप वह अपने पति बड़े सरकार को अपने मन्स में और व्यवहारिक रूप से भी पति का दर्जा नहीं दे पाती । सोनपुर के मेले में हाथी खरीदने गये बड़े सरकार की अनुपस्थिति में पानकुँवरि अपने प्रेमी को हवेली में बुलाकर अपनी राजदार सखी एवं लौंडी की सहायता से शारीरिक तुष्टि पाती है। अचानक मेले से आए बड़े सरकार को भेद मालुम होने पर रानी पानकुँवरि से बात छुपाकर रंजन की हत्या कर लाश ठिकाने लगा दी जाती है और पानकुँवरि रंजन के इन्तजार में लगभग विक्षिप्त सा जीवन जीती है । पानकुँवरि रंजन के पुत्र लल्लन की माँ बनकर बड़े सरकार को हमेशा-हमेशा के लिए मानसिक उद्देलन का शिकार बना देती है । सामन्ती हवेली के भीतर चाहे रानी हो या लौंडिया उनकी स्थिति में कोई खास फर्क नहीं होता । वहाँ औरत भोग्या है, पुरुष के अहं की शिकार औरत आदेशों का पालन करने वाली, शारीरिक समर्पण करने वाली, आनन्द प्रदान करने वाली वस्तु से अधिक उसकी कोई स्थिति नहीं है । पानकुँवरि अपने माँ बाप के घर में भी सामन्ती दम्भ का शिकार होकर अपने प्रेमी रंजन को छोड़ कर सामन्त से विवाह करने पर विवश होती है। सामन्त की पत्नी बनकर अपनी भरी जवानी में ही वह विक्षिप्त जीवन जीती है । पूरे नारी जीवन का यही हश्र इस उपन्यास की कथा है। यह कथा केन्द्र में होकर भी अन्य प्रासंगिक कथाओं के चलते प्रमुख नहीं बन पाई है ।

हवेली के भीतर की दुनिया से निकलकर बाहर झाँके तो बाहर सामन्त के आधीन विवश, दु:खी किसान है, बंधुआ दास है जिनकी विवशताओं पर पूरा सरकारी विभाग, पटवारी, तहसीलदार पुलिस, मजिस्ट्रेट जमींदारों से मिलीभगत करके अपनी पाँचों अंगुलियों को घी में रखता है । बड़े सरकार सरकारी विभाग को दावतें देकर अपने शोषण चक्र को मजबूत करने में बड़ी मुस्तैदी से काम लेते हैं। पटवारी और दारोगा को अपने पक्ष में कर किसानों को भूमि से बेदखल करते हैं ताकि भूमिहीन अवस्था में विवश किसान

फौज में भर्ती होने पर विवश हो जाए । केवल इतना ही नहीं बड़े सरकार के कारिन्दे महाजन व बनियों की सहायता से बेदम किसानों के रक्तहीन अस्थिपंजर को नोच-खोंसकर यहाँ-वहाँ मरने को छोड़ देते हैं । उपन्यास का सबसे जीवंत पक्ष चतुरी, रमेसर और महावीर के पदार्पण से आरम्भ होता है । रमेसर,चतुरी व महावीर गाँव में सभाओं का आयोजन करके किसानों को जमींदारों के विरुद्ध एक जुट करते हैं यद्यपि मानव-मुक्ति के इस संघर्ष में वे कामयाब नहीं होते क्योंकि सामन्ती हाथ इतने लम्बे फैले होते हैं कि इन निरीह ईमानदार जीवन जीने की मांग करने वालों को एक चुटकी में ही कुचल सकते हैं । यही सामन्त के टुकड़ों पर पलने वाले दारोगा, हवलदार रातों-रात चतुरिया को हवालात की हवा खाने को विवश कर देते हैं और जनसंघर्षों की आवाज को एक ही थपेड़े में सुला देते हैं ।

स्वतंत्रता पूर्व का भारतीय ग्राम्य जीवन दुःख से बिसूरते रहने की करुण दास्तान है जो ब्रिटिश सरकार की आर्थिक औपनिवेशिकता के पहिये से कुचले घावों पर नमक डालने की स्थिति के समान ही संवेदना उत्पन्न करती है । न केवल जमींदार वरन महाजन, पुरोहित, मुखिया, पटवारी, कानूनगो, थानेदार तक अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में मिली सुरक्षा के कारण अबाध शोषण करते रहे । विवेच्य उपन्यास में शोषण की यही प्रक्रिया भैरव जी की संवेदना पाकर पाठक को आहत करती हे, रोंगटे खड़े करती है । बड़े सरकार गाँव के उत्पादन के साधन भूमि पर अधिकार करके कृषकों के लिए भूमि बन्दोबस्त करके मनमाना लगान वसूलते हैं जिससे सामन्त घर बैठे बिना हाथ-पैर हिलाये ही नौकर-चाकर सम्पन्न हैं तो किसान-दिन-रात परिश्रम करके भी दोनों वक्त की क्षुधा शान्त नहीं कर पाते । कृषक समुदाय, भूमिहीन किसानों की श्रमशक्ति पर सामन्त का पूरा-पूरा अधिकार है क्यों-कि जमीन का अभाव एक किसान की सबसे बड़ी दुर्बलता है । सामन्तों की नादिरशाही प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती जाती है, श्रमिक अधिकाधिक शोषण,

उत्पीड़न का शिकार होता जाता है। भैरव जी चूँकि प्रगतिशील चेतना सम्पन्न लेखनी वाले रचनाकार हैं अत: वे केवल स्थितियों का उद्घाटन करके ही दम नहीं लेती। उनकी प्रत्येक कृति में कुछ ऐसे पात्रों की सर्जना हम देख सकते हैं जो व्यवस्था के खिलाफ अपने व्यक्तिगत संकीर्ण संघर्षों, मतवादों को ताक पर रखकर मानव मुक्ति के लिए सीधे रणक्षेत्र में कदम रखते हैं। रमेसर, चतुरी व महावीर इन्हीं जनवादी ताकतों के प्रतीक रूप में पाठक को अपनी जीवंतता का व प्रकारांतर से रचनाकार की चिन्ता का स्पष्टीकरण देते हैं। यद्यपि इन जनवादी ताकतों को सामन्ती पंजों को तोड़ने-मरोड़ने एवं नोचने में सफलता नहीं मिल पाती फिर भी संघर्ष में आस्था रख कर भैरव जी अपनी गतिशील चिन्तन के विविध आयामों को स्पष्ट करते हैं।

भैरव जी भले कुछ भी लिखते हों, अपनी वर्गीय पक्षधरता को वे प्रत्येक सर्जना में मुखरित करते हैं। उनकी लेखनी भारतीय ग्रामीणों को जो सामन्ती, महाजनी व साम्राज्यवादी शोषण में पिसकर उनकी भुखमरी, अपंगता, नंगापन, अशक्तता, उनके दु:ख एवं कर्ज में डूबी बेदम आवाज को ऊँचा करती है। उनकी लेखनी का यथार्थ उस व्यक्ति का यथार्थ है जिसे पेट भरने के लिए दो जून की रूखी-सूखी रोटी भी नसीब नहीं होती तो गर्मी-सर्दी-बरसात में सर छुपाने के लिए एक टुकड़ा छत का आश्रय नहीं मिलता। इन्हीं निरुपाय लोगों के श्रम से खून की टट्टियों में आकंठ भोग-विलास में लिप्त, छत्तीस प्रकार के सुस्वादु व्यंजनों का मजा लेते हुए ऊँची अटारी में मखमली गद्दों पर अपहृत बाला का कौमार्य भंग करते हुए इन कलुषित सामन्तों के चरित्र की सही-सही रग पकड़ते हुए भैरव जी ने "आग और आँसू" उपन्यास में अपनी वर्गीय पक्षधरता को स्पष्ट करते हुए सामन्तों के काले कारनामों से यवनिका उठाने की सार्थक चेष्टा की है, साथ ही साथ संघर्ष करते जाने की अजस्र प्रवाहित परम्परा को आगे ले जाने का भरसक प्रयत्न किया है जिसकी

जड़ें इतिहास की नींव में गहरी जमी हुई हैं। राजकुमार शर्मा ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अपना मत अभिव्यक्त किया है — "यह आकस्मिक नहीं है कि समूचे भारतीय साहित्य की यथार्थवादी परम्परा, अपने सर्वोत्तम रूप में, यहाँ के किसान की संघर्ष गाथा है ··· पिछले डेढ़ सौ साल के साहित्य का इतिहास तो साम्राज्यवादी-सामंती शोषण की दोहरी बेड़ियों के खिलाफ किसान के संघर्ष की जीती-जागती तस्वीर रहा है।"[1]

---

1. उद्भावना - अक्तूबर-दिसम्बर, 1987, पृ॰-2.

अध्याय - पाँच

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में सामाजिक चेतना

(अ) वर्ण एवं जाति भेद - पारिवारिक सम्बन्ध
(ब) वर्गीय चेतना - उच्च, मध्यम एवं निम्न वर्ग
(स) नारी चेतना - वर्गीय स्वरूप

अध्याय - पाँच

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में सामाजिक चेतना

(क) गंगा मैया उपन्यास में सामाजिक चेतना

भैरव प्रसाद प्राचीन मूल्यों को रूढ़ रूप में अपनाने के आग्रही न रहकर परिवर्तित होती हुई परिस्थिति के अनुसार मान्यताओं में परिवर्तन चाहते हैं । वे मानते हैं कि ईश्वर नामक किसी भी सत्ता का अस्तित्व नहीं है, अपने शोषण चक्र को निर्बाध रखने के लिए एक स्वार्थी समुदाय द्वारा बनायी गई एक काल्पनिक निर्मिति मात्र है । एक ऐसी झूठी मान्यता है, जो शोषित, गरीब को उसकी बदहाली का कारण उस व्यवस्था में खोजने के लिए मजबूर नहीं करती, अपितु उस ईश्वरीय विधान को बताती है जिस पर उसका वश नहीं चलता । यदि शोषित व्यक्ति विरोध करना शुरु कर दे तो यह शोषण चक्र अपनी गति त्यागने पर मजबूर हो जाएगा, परन्तु दैविक भय उसे विरोधी चेतना से कोसों दूर ले जाता है । भैरव जी धर्मानुयायी नहीं हैं । वे धर्म का मूल शोषण में मानते है । उनका मत है कि प्रत्येक शोषित को अपने अधिकारों के लिए चिन्तनशील होकर लड़ना चाहिए अन्यथा उसकी गोद में अधिकार प्रदान करने के लिए कोई देवदूत प्रकट नहीं होगा । हम

देखते हैं कि "गंगा मैया" उपन्यास का प्रत्येक पात्र अपने जीवन एवं आस-पास के परिवेश को खुली आँखों व खुले मस्तिष्क से ग्रहण करता है, समझता है । वह अपनी दयनीय स्थिति का कारण व्यवस्था में ही खोजने का प्रयत्न करता है तथा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपनाता है ।

"गंगा मैया" उपन्यास की विधवा भाभी के नैतिक दृष्टिकोण में पुरातनपन्थी विधवाओं के नैतिक दृष्टिकोण से पर्याप्त भिन्नता है । उसकी विशिष्ट तस्वीर हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है।भैरव जी नारी के स्वतन्त्र विकास के पक्षपाती हैं । वे नारी को पुरुष की क्रीतदासी या अन्धाधुन्ध अनुगामिनी होना पसन्द नहीं करते । वे चाहते हैं कि नारी को अबला मान कर किसी बाहरी शक्ति द्वारा उस पर निर्णय न थोपे जाएं, वरन वह अपनी स्वेच्छानुसार एवं बुद्धिनुसार जीवन के मार्गों का निर्धारण करे, ताकि उन रास्तों पर चलने के लिए उसमें आत्म-विश्वास पनपे, उसकी स्वतन्त्र चेतना का मार्ग प्रशस्त हो । उसके कार्यों, लक्ष्यों व निर्णयों के पीछे कोई पुरुष शक्ति का दबाव नहीं हो बल्कि उसकी स्वयं की चिन्तनशील पृष्ठभूमि होनी चाहिए । नारी का शोषण बहुआयामी है, केवल पुरुष ही नहीं नारी स्वयं नारी का भरपूर मनवाहा दोहन करती है । सास-बहु, ननद-भौजाई के रिश्ते प्रतिपल कटुता से प्रेरित हो एक दूसरे को नीचा दिखाने हेतु विभिन्न तरीके ईजाद करती रहती हैं । यह स्थिति गाँवों में अधिक भयानक है, क्योंकि शहरों में नारी की शिक्षा एवं नौकरी के कारण परिवारों का स्वरूप आणविक है । परन्तु भारतीय ग्राम्य जीवन जिसमें खेती ही जीवनाधार है, वहाँ संयुक्त परिवार कलह - मनमुटाव का ही पर्याय बनकर रह जाते हैं । परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात उसकी मानसिक स्थिति में कुछ अन्तर आया है । अपने दाम्पत्य जीवन, शिक्षा, बच्चों एवं भविष्य को वह एक हद तक व्यक्तिगत मसला मानकर बूढ़े-बुजुर्गों के हस्तक्षेप को बेमानी मानने लगी है । नारी व पुरुष के असमान सामाजिक स्तर के प्रति भी उसका दृष्टिकोण विचारणीय है। "गंगा मैया" की विधवा भाभी

पुरुष को समाज में अधिक अधिकार पाते हुए देखकर अपनी विरोधी चेतना का परिचय देती है ।

(अ) नारी चेतना

नारी व पुरुष में भेद-भाव पूर्ण व्यवहार के कारण गोपी की विधवा भाभी क्षुब्ध है, कुढ़ती है, आक्रोश व्यक्त करती है तथा एक दिन ज्वालामुखी बन फूटती है । वह यह मानने लगी है कि समाज उसे तब तक स्वतन्त्रता नहीं सौंपेगा जब तक वह स्वयं उसके लिए जुझारु व्यक्तित्व का निर्माण नहीं करेगी । भाभी एक ग्रामीण अशिक्षित विधवा महिला है, विधवापन के पश्चात जिसकी जिन्दगी सास-ससुर की सेवा मात्र रह गयी है। घर का सारा काम-काज बिना नाक-भौं सिकोड़े उसका धर्म बन गया है।सबसे मृदुल व नम्र व्यवहार उसकी जीवन जीने की अनिवार्य शर्त है।वही भाभी अपनी अधिकारिक चेतना से सम्पन्न होने के कारण सास-ससुर से समुचित सहयोग एवं अधिकार न पाकर विरोधी रवैया अपनाती है।किसी ग्रामीण, असहाय, अशिक्षित विधवा महिला की यह चेतना बेशक व्यक्तिगत स्तर पर ही सही, निश्चित ही सराहनीय है ।

विधुर देवर के पुनर्विवाह के लिए रिश्ते का प्रस्ताव आया हुआ देखकर भाभी क्षुब्ध है क्योंकि विधुर बेटे के पुनर्विवाह पर खुशी-खुशी हाँ करने वाले वही सास-ससुर बहु के पुनर्विवाह की बात पर ऐसे चीखते हैं मानो आसमान सर पर टूट पड़ा हो । भाभी अनेकानेक प्रश्नों के जवाब चाहती है । एक विधुर पुनर्विवाह कर सकता है तो एक विधवा क्यों नहीं ? कुढ़-कुढ़ कर जीना केवल नारी के हिस्से में ही क्यों ? अनुभूति तो सबको समान ही होती है, बल्कि नारी अपनी संवेदनशीलता के कारण कुछ अधिक ही महसूसती है । देवर पुनर्विवाह करके अपनी गृहस्थी बसा सकता है तो बेड़ियां नारी के ही पाँवों में क्यों ? भाभी अपनी स्थिति का विश्लेषण करती है । वह इस तथ्य को जानती है कि जाति-विरादरी भय बहुत कृत्रिम होता है ।

किसी भी अपवाद पर दो-चार दिन दाँतो तले अँगुली दबाकर रह-रहकर आश्चर्य व्यक्त करके जाति-विरादरी स्वत: ही अपनी सीमाओं में सिमट जाती है । "गंगा मैया" में विधुर देवर और विधवा भाभी का विवाह करवाकर पुरातन सड़ी-गली मान्यताओं पर प्रहार करते हुए भैरव जी नारी के प्रति अपने जागरूक दृष्टिकोण का परिचय देते हैं । भाभी के विधवा होने पर अपनी स्थिति के प्रति क्षुब्धता, देवर को अधिक अधिकार मिलते हुए देख कर नारी का द्वन्द्वग्रस्त होना उसकी चिन्तनशीलता में बराबर उतार-चढ़ाव आना और अन्त में पुनर्विवाह के लिए निर्णय लेना उसकी चेतना की ही अभिव्यक्ति है ।

(ब) नैतिकता के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात हमारे जीवन मूल्यों में पर्याप्त अन्तर आया है । समाज के प्राचीन नैतिक आदर्श व मापदण्ड टूटे खिलौने मात्र बनकर रह गए हैं । आज की स्थिति में व्यक्ति उन मूल्यों से चिपककर नहीं जी सकता। समय की रफ्तार जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है उसके साथ-साथ व्यक्ति अब स्वयं के समक्ष खड़ा हो गया है । डॉ० सुरेश सिन्हा स्पष्ट करते हुए लिखते हैं — "उसके सामने प्रतिष्ठित सभ्य एवं स्वीकृत नैतिक मानदण्ड झूठे पड़ गए हैं और न केवल समाज के प्रति वरन स्वयं अपने प्रति विद्रोह करने के लिए आकुल हैं, प्रयत्नशील हैं उसके लिए हर संदर्भ अर्थहीन हो गए हैं और सारी नैतिक मान्यताएं, बल्कि सारी की सारी आचार संहिताएं खोखली एवं जर्जर पड़ गयी हैं। जितना ही वह सार्थक अर्थ प्राप्त करने की चेष्टा करता है उसमें व्यर्थता बोध गहराता जा रहा है और वह असमर्थ होता जा रहा है ।"[1]

---

1. डॉ० सुरेश सिन्हा - हिन्दी उपन्यास, 1972, पृ०- 135.

प्राचीन समय में भारतीय समाज व्यवस्था के नैतिक मापदण्ड काफ़ी कड़े रहे हैं । भाभी को माँ के समान दर्जा दिया जाता है।भाभी-देवर के विवाह की कल्पना ही पाप मानी जाती रही है । समय परिवर्तन से नैतिक एवं सामाजिक मानदण्डों में भी आमूल परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं । एक समय ऐसा था जब जवान विधवा नारी घर बैठी रहती थी और जवान देवर उसे माँ का दर्जा दिए हुए उससे आँख मिलाकर बात करना भी अनैतिक मानता था ; परन्तु उससे यह नहीं होता था कि सामाजिक विरोध सहन करके उससे विवाह करके जीवन सुखमय बनाता । "गंगा मैया" उपन्यास में गोपी द्वारा भाभी से विवाह करना नैतिक मूल्यों में आए परिवर्तन का द्योतक है । केवल पुरुष ही नहीं नारी स्वयं रूढ़ नैतिक जाल को तोड़कर स्वतन्त्र जमीन पर विचरण करना चाहती है ।"गंगा मैया" की भाभी देवर के सम्भावित प्यार की कामना मात्र से ही पुलकित हो कल्पनाओं के सागर में गोते लगाती है । अचानक देवर के विवाह के लिए आए प्रस्ताव को देखकर भाभी की नैया जैसे भँवर में डोलने लगती है, भाभी अपने असन्तोष एवं सम्भावित बुरी आशंका को दबी जुबान से यूँ व्यक्त करती है — "अभी जल्दी क्या है ? उसे छूट तो आने दो ।"[1] यहाँ भाभी का चरित्र एक अचेतन शरीर के रूप में नहीं उभरता जो पूरे दिन अन्धी शक्ति अपने को दोषी महसूसते हुए घर का काम काज करती रहे । सामान्यत: भारतीय विधवाएँ अपने को पराश्रित समझकर रो-धो कर जीवन गुजार लेती है परन्तु "गंगा मैया" की भाभी पराश्रित होते हुए भी अपने मन में हीन भावना को स्थान न देते हुए अपनी तर्क क्षमता से सवाल-जवाब करती है ।

नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन के सन्दर्भ में केवल भाभी ही नहीं भाभी की सास जो पुरातनपन्थी एक तानाशाह सास है, जो बेटे का सुख

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - गंगा मैया, पृ.-58.

चाहती है बहु का नहीं, पुत्र के मुँह से भाभी के साथ विवाह की इच्छा जानकर जो बहु को फटकारती हुई कहती है — "कलमुँही तुझे लाज न आयी देवर पर डोरा डालते । मैं तो समझी थी कि सावित्री-सी सती है बहु । क्या-क्या पाखण्ड रचे थे पूजा, पाठ ••• तुझे लाज न आयी यह सब करते । यही करना था तो क्यों न निकल गई किसी पापी के साथ ।"[1] यही सास अवसर आने पर अपने नैतिक मूल्यों में बहुत ही तीव्रता से आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लेती है । विवाह से पूर्व सास को जाति-बिरादरी का भय था परन्तु यही भयभीत नारी विवाहोपरान्त जाति-बिरादरी भय को मिथ्या बताती हुई एक सीमा तक बिरादरीवाद के विरोध में जा खड़ी होती है । उसका विरोध स्पष्ट है — "तुम्हीं कहो किसी वेसवा से मेरी बहु ही खराब है ? डंके की चोट पर उसने ब्याह किया है । शोहदों की तरह चोरी लुक्के तो अपना मुँह काला नहीं किया ।"[2]

उपन्यास में स्वातन्त्र्योत्तर भारत में नैतिकता के मानदण्डों में परिवर्तन को उजागर किया गया है, निश्चित ही अब व्यक्ति का पूरा अस्तित्व उसके सर्जनशील जीवन की डोर से बंधा है । अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए उसे अपने परिवेश को अनुकूल बनाना पड़ रहा है । स्थितियाँ यदि अनुकूल नहीं होती तो वह उनसे संघर्ष करता है तथा पुराने सूत्रों को बिखेरकर नये मूल्यों, नयी नैतिकता का निर्माण करता है । डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त इसे नयी परिस्थितियों का प्रसव कहते हुए लिखते हैं — "स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास ने गाँव और मनुष्य दोनों को यथार्थ परिवेश में तटस्थ दृष्टि से देखने का प्रयास किया है । परम्पराओं के विरोध एवं मूल्यों के अवमूल्यन से ग्रामगंधी परिवेश में नैतिकता की नयी स्थितियों ने जन्म लिया है ।"[3]

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - गंगा मैया, पृ०-
2. भैरवप्रसाद गुप्त - गंगा मैया, पृ०-
3. डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त - स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना पृ०-95.

(स) जाति-बिरादरीवाद का विरोध

आपसी गुप्त समझौते के आधार पर गोपी का रिश्ता औपचारिक रूप से सम्पन्न करने के लिए लड़की (भाभी) का भाई बनकर मटरु बरेछे का सामान देकर चला जाता है । जाति-बिरादरी वालों से बिना सलाह-मशविरा किए रिश्ता तय करने से बिरादरीवाद के ठेकेदारों के अहम को चोट पहुँचती है । फलत: वे इस रिश्ते का विरोध करते हैं।उनके अनुसार बिना यह जाने कि लड़की किस बिरादरी की है ? कैसी है ? रिश्ता कैसे तय किया जा सकता है । वे कहते हैं — "उसके माँ-बाप कहाँ के हैं ? उसका खून कैसा है ?"[1]

गोपी नयी पीढ़ी का चेतनशील नये मूल्यों को ग्रहण करके जीने वाला इन्सान है । वह जाति-बिरादरी, सामन्ती चेतना को उखाड़ फेंक देना चाहता है । वह उस चेतना का कायल है जो एक इन्सान को झूठे जाति-बिरादरी के रिश्ते-नातों से ऊपर उठाकर जीवन प्रदान करती है। गोपी ही नहीं अपितु गोपी के माँ-बाप जो बिरादरी में विश्वास करते हैं।वे भी अवसर पड़ने पर झूठे जातिय दम्भ का विरोध करते हैं । तथा इतना हौसला रखते हैं कि विवाह जैसे अवसर पर एक ग्राम्य पारम्परिक परिवार बिना नाते-रिश्तेदारों की उपस्थिति में भी शादी सम्पन्न होने में विश्वास रखते हैं। इसीलिए गोपी की माँ बिरादरी बहिष्कार करती हुई अपना आक्रोश इन शब्दों में व्यक्त करती है — "जाओ, जाओ । तुम्हारे बिना हमारे बेटे की शादी नहीं रूक जाएगी । पंडित जी पूजा की तैयारी कीजिए । इनके आँख दिखाने से क्या होता है ? होगा कोई घूरा-कतवार इनकी परवाह करने वाला । यह माविग के बाप का घराना है जो अकेले ही हमेशा सौ पर भारी रहा है। क्या समझ रखा है इन्होंने ?"[2]

---

1. भैरवप्रसाद गुप्त - गंगा मैया, पृ.-103.
2. वही " पृ.-111.

इस उपन्यास में न केवल नयी पीढ़ी के गोपी व मटरू बल्कि निहायत ही परम्परावादी परिवार की गोपी की माँ भी अपने पुराने मूल्यों को नयी दिशा देकर कुंठित मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह लगा देती है।इसी प्रश्नचिन्ह के माध्यम से जीवन्त मूल्यों के स्थायित्व में विश्वास पनपता है । सामाजिक व्यवस्था में बिरादरीवाद का गीध साम्राज्य छाया होता है।बिरादरीवाद अपने-अपने मानदण्डों पर विरोधी हस्तक्षेप को सहन नहीं कर पाता । इन्हीं जटिलताओं से प्रगतिशील मानसिकता का संघर्ष होता है।यही संघर्ष प्रासंगिक रूप से इस उपन्यास में चित्रित हुआ है जो सामाजिक चेतना की ही अभिव्यक्ति करता है ।

(ख) "सती मैया का चौरा" उपन्यास में सामाजिक चेतना

"सती मैया का चौरा" मुख्य रूप से स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार का दस्तावेज है । 1947 से 1950 तक के भारत की राजनैतिक एवं सामाजिक स्थितियों को उसकी समग्रता में देखने का प्रयत्न किया गया है । उपन्यास का वातावरण राजनैतिक होते हुए सामाजिकता के ओर-छोर को छूने में सक्षम है।वस्तुत: आज की स्थिति में राजनीति एवं समाज को अलग करके नहीं देखा जा सकता ।

(अ) वर्ण एवं जाति व्यवस्था के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण

भारतीय समाज अपनी प्राचीनावस्था में वर्ण-व्यवस्था के मुताबिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और क्षुद्र चार वर्गों में विभाजित रहा है । महाभारत के "पुरुषसुक्त" में इस व्यवस्था का उल्लेख है जिसमें ब्राहमण को सर्वश्रेष्ठ, क्षत्रिय को राजकार्य करने वाला तथा बाहुबल युक्त, वैश्य को व्यापार करने वाला एवं शूद्रों को उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा सुश्रूषा करने वाला माना गया है ।

महाभारत कालीन यह व्यवस्था सामन्तकाल तक अपनी तमाम विकृतियों, बुराइयों के साथ चलती रही । धीरे-2 नवजागरण की लहर के दौरान खून भेद पर आधारित व्यवस्था चुनौतियों के समक्ष टिक नहीं पाई । राजाराम मोहन राय, महादेव गोविन्द रानाड़े, दयानन्द सरस्वती, एनी बेसेंट, केशव-चन्द्र सेन सरीखे महापुरूषों ने सामाजिक जीवन की विकृतियों के उन्मूलन हेतु जागरण की लहर चलाई। नवीन शिक्षा एवं समाज सुधार आन्दोलनों द्वारा जनता में जाग्रत चेतना से वर्ण व्यवस्था, जाति-उपजाति के भेदों पर प्रहार होने लगे । वर्तमान समय में विभिन्न व्यवसायों एवं उद्योगीकरण ने जाति व्यवस्था को बेमानी सिद्ध कर दिया । उद्योगीकरण के कारण व्यक्ति गाँव से शहर काम की तलाश में मजदूर बनने लगा । पूँजीपति के कारखाने में अपना श्रम बेचने व खरीदने वाली व्यवस्था में जाति का प्रश्न कोई मायने भी नहीं रखता है। फलत: जाति गौण हुई, वर्ग प्रमुख बने। उदाहरणत: सामन्त वर्ग, पूँजीपति वर्ग, मध्यम वर्ग, श्रमिक वर्ग इत्यादि ।

भैरव जी का समस्त साहित्य वर्गीय दृष्टिकोण से लिखा गया है । "सती मैया का चौरा" में हम वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था के बजाय वर्तमान में पनपे वर्गीय स्वरूप का मूल्यांकन पाते हैं।समाज में एक तरफ सुगन्धीराय, काजी खादिमुलहक जैसे सामन्तों का कलुषित क्षुद्र स्वार्थों से चालित वर्ग है तो दूसरी तरफ गुलाम हैदर या लुत्फेहक जैसे वर्ग चेतना सम्पन्न श्रमिकों का वर्ग है।अब समाज में शोषक और शोषित दो वर्ग हैं । शहर में पूँजीपति व मजदूर वर्ग हैं तो इन्हीं के मध्य विकसने वाला मध्यम वर्ग है जो निम्न वर्ग से आर्थिक दशा में कुछ बेहतर हालात के कारण अलग है, शारीरिक श्रम के प्रति उसका दृष्टिकोण हीन है, पूँजीपतियों के बराबर होने में अपनी उर्जा लगाने का प्रयत्न तो करता है परन्तु उनके समकक्ष नहीं होने के कारण उनकी श्रेणी मध्यम वर्ग की है । यह वर्ग चूँकि पढ़ा लिखा है, शोषित है, अत: चिन्तनशील है, विद्रोही है ।

"सती मैया का चौरा" में "मन्ने" और "मुन्नी" दोनों पात्र प्रगतिशील हैं; दोनों ही मध्यमवर्ग से आते हैं, तथा श्रमिक वर्ग को अपने पक्ष में लेकर उन्हें वर्गीय हितों के प्रति जागरूक बनाने का व्यवहारिक प्रयास करते हैं। अपने हितों के प्रति व्यापक रूप से चेतना बोध होने पर जाति अथवा वर्ण का प्रश्न बहुत छोटा पड़ जाता है । जब उन्हें पता चलता है कि उनके शोषण का कारण जाति, वर्ण नहीं अपितु विरोधी वर्ग है तब यह वर्ग एक जुट होकर जातिगत छोटे-छोटे संकीर्ण मसलों को व्यापक हितों की वेदी पर छिटक देते है । उपन्यास में हम देखते हैं कि हैदरअली के नेतृत्व में पूरे गाँव वाले अपने तमाम भेदों को भूलाकर वर्गीय हितों से प्रेरित हो अत्याचारी सुगन्धीराय के विरोध में संघर्ष करते हैं। इस समय उनके संघर्ष का एक ही पहलू जिन्दा रहता है, वह है अत्याचार के विरुद्ध दमन । वहाँ धर्म, जाति और सम्प्रदाय का भेद मिट जाता है, उद्देश्य की एकता उन्हें एक सूत्र में पिरो देती है —"या अली और जय महावीर जी के नारों से सारा गाँव गूँज उठा । जिस जवान को भी देखो, लाठी लिए भागा-भागा आ रहा है ··· या अली और जय महावीर जी के नारे देते हुए गुलाम हैदर की रहनुमाई में गाँव के जवानों का दल सीवाने की तरफ चला ।"[1]

(ब) नारी का वर्गीय दृष्टि से मूल्यांकन

स्वतन्त्रता के पश्चात भी ग्रामीण समाज में नारी की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया । वह आज भी भोग की सामग्री है । शिक्षा के अभाव में उसका मानसिक विकास नहीं हो पाता । वह अपने विवाह से पूर्व माता-पिता, विवाहित जिन्दगी में पति को समर्पित रहती है । पति के बिना उसका कोई आधार नहीं है क्योंकि वह आर्थिक रूप से स्वयं पर

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ॰-235.

निर्भर नहीं होती । निम्न वर्ग की नारी की स्थिति तो अपनी आर्थिक यन्त्रणाओं की विभीषिका में परास्त होती है । आर्थिक दबावों के कारण उँचे वर्ग के लोगों से उसे सम्बन्ध कायम करने पड़ते हैं । पेट की भूख की अग्नि के चलते वह अपना शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं चारित्रिक प्रत्येक तरह का शोषण करवाने पर विवश रहती है, किन्तु मध्यवर्गीय ग्राम्य समाज की नारी की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है । ग्रामीण सामाजिक ढाँचा आज भी सामन्तवाद के चंगुल से मुक्त नहीं हो पाया है । अत: पर्दा प्रथा, बालविवाह पुरुष के साथ अनैतिक सम्बन्ध, गृहस्थी के क्लेश, मध्यवर्गीय नारी के शोषण के विविध आयाम हैं । "सती मैया का चौरा" में मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय नारी की सामाजिक स्थिति के अंकन से भैरव जी का वर्गीय दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है ।

मध्यवर्गीय नारी

मध्यवर्गीय नारी में मन्ने की पत्नी महशर व उसकी विवाहित, अविवाहित बहनें तथा महशर की अविवाहित बहन आयशा व जिल्ले मिंया की पत्नी आदि की गणना की जा सकती है। ये सभी औरतें एक विशेष प्रकार के भावावेश में घुटती है, अपनी स्थिति से विद्रोह करती है । परन्तु सभी का विद्रोह अपने व्यक्तिगत स्तर पर अपनी संकीर्णताओं के प्रति है । वे पुरुष के बन्धन से मुक्त तो होना चाहती हैं, परन्तु यह मुक्ति कहाँ सम्भव है ? कैसे सम्भव हो ? वे शायद स्वयं भी नहीं जानती । ये सभी घरेलू औरतें पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह-अनिर्वाह के मध्य डोलती हुई प्रेम सम्बन्ध स्थापित करती हैं, काम-कुंठाओं की शिकार भी बनती हैं, जीवन की एकरसता इनमें ऊबाउपन भी पैदा करती है परन्तु विडम्बना यह है कि इस ऊब के निस्तारण की सम्भाव्यता की तलाश में पथ की पहचान इन्हें अभी तक नहीं हो पाती है । महशर अपनी जिन्दगी का ताना-बाना अपने पति मन्ने के

इर्द-गिर्द ही बुनती है । इससे अधिक कुछ सोचना उसे अच्छा ही नहीं लगता । "मन्ने" का सम्बन्ध जब महशर की अविवाहित बहन "आयशा" से होता है, तत्पश्चात गाँव की ही बसमतिया से भी। तब मध्यवर्गीय समर्पिता नारी की विवशता, असहायता भरी घुटन का जायजा सहज ही महशर के चरित्र की बौखलाहट से लिया जा सकता है। वह विरोध करती है, रोती है, कलपती है, झींकती है और अन्त में विश्वास का आश्वासन पाकर संतुष्ट हो जाती है । भविष्य में विश्वास की आस्था ही इनकी अन्तिम सीढ़ी होती है। इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ विवशता, असहायता, निरूपायता ।

"मन्ने" की बहने, महशर से परस्पर मनमुटाव रखकर घरेलू वातावरण को कलहमय बनाती हैं । "मन्ने" की एक बहन विधवा होने पर बच्चों सहित मन्ने के घर आ जाती है । आत्म निर्भरता का अभाव न ससुराल में जगह नहीं दे पाता है और पीहर भी कम यन्त्रणादायक सिद्ध नहीं होता । "जिल्लेमिंया" की पत्नी अपने पति की उबाऊ आदतों से तंग है। कभी घर की चिन्ता न करने वाले "जिल्ले मिंया" की पत्नी पति का भरपूर साथ न पाकर कुंठित रहती है, तो इधर जवान अविवाहिता आयशा अपनी बहिन महशर के पति मन्ने से प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित करके महशर व मन्ने के दाम्पत्य जीवन में दरार पैदा करती है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि ग्राम्यजीवन की मध्यवर्गीय नारियाँ द्वन्द्वग्रस्त, द्विविधामय जीवन जीती हैं । उनका जीवन तमाम अभावों, विवशताओं और पुरुषशक्ति से चालित होने के कारण उनका "स्वयं" अनुत्तरित रह जाता है । यह "अनुत्तरित स्वयं" ही घुटन का स्रोत बिन्दु बनता है ।

निम्नवर्गीय नारी

"सती मैया का चौरा" में निम्नवर्गीय नारियों में चमार की लड़की कैलसिया और मन्ने के यहाँ काम करने वाली बसमतिया व उसकी माँ की गणना सहज ही की जा सकती है । ये नारियाँ चूँकि आर्थिक विषमता के मध्य तरह-2

के कटु अनुभवों की शिकार सहज ही हो जाती है। जिन्दगी के ये बुरे हादसे अनचाहे ही इन्हें वर्गीय देन के रूप में प्राप्त होते हैं चमारों की कैलसिया को मुखिया नन्दराम तेली का लड़का किसन भरी दोपहर में मुँह में कपड़ा ठूँसकर बे आबरू कर देता है तो मन्ने के पिता अपने जीवन के अन्त तक कैलसिया के पक्ष में न्यायालय में लड़ाई लड़ते हैं परन्तु उनके देहावसान के कारण कैलसिया पुन: असुरक्षित जीवन जीती हुई कलकत्ता के चटकल में कार्य शुरू करती है परन्तु वहाँ भी हवस के भूखे दरिन्दे उस कमसिन असुरक्षित नारी को भोगने हेतु पाशविकता से काम लेते हैं । इसी प्रकार मन्ने के घर में काम करने वाली नादान बसमतिया मन्ने से गर्भवती होकर भी पैदा हुए बच्चे को बाप का स्नेह नहीं दिलवा सकती। और तो और महशर के समक्ष मन्ने और बसमतिया के छुपे प्रेम-सम्बन्धों का भेद खुल जाने पर कलह से बचने हेतु मन्ने बसमतिया से अपने सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है । बसमतिया और कैलसिया जैसी निम्न वर्गीय नारियाँ मन्ने और किसन जैसे मध्यवर्गीय पुरुषों की भोग्या बनने हेतु विवश हैं। यह वर्गीय सच्चाई है जिससे आँख मूँदना रचनाकार जैसे संवेदनशील इन्सान के लिए सम्भव नहीं है ।

(स) नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन

"सती मैया का चौरा" में रचनाकार ने मन्ने के माध्यम से मध्यम वर्गीय चरित्र में आए नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन का जिक्र किया है । मन्ने वैचारिक रूप से काफी दृढ़ है। वह अपनी छिछली व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की संकीर्णता से उबर कर पूरी मानवता के हितार्थ समर्पित विचारधारा में विश्वास रखता है । गाँवों में संगठन बनाने के दौरान विभिन्न राजनैतिक दलों के नेताओं से व्यक्तिगत विद्वेष मोल लेता है परन्तु भीतर ही भीतर उसकी वैचारिकता द्वन्द्वग्रस्त है। आर्थिक परेशानियाँ उसकी ईमानदारी की मानों परीक्षा ले रही हों । सुविधाभोगी जीवन जीने की आदत एवं मध्यमवर्गीय

कमजोरियाँ मन्ने पर हावी होने लगती हैं ।

भूमिहीन जमुनवा अपने बेटे की अस्वस्थता के कारण लगान चुकता न कर पाने के कारण मन्ने के पितृ तुल्य बाबू साहब के दुर्व्यवहार से अपमानित होकर भला-बुरा कह देता है।अहं पीड़ित बाबू साहब मन्ने को जमुनवा के विरुद्ध भड़काते हैं।सामन्ती संस्कारों एवं प्रगतिशील चेतना के मध्य झूल रहे मन्ने पर सामन्ती संस्कार हावी होकर बाबू साहब के धूल में लोट रहे अहं को पुनर्जीवित करने के लिए निरीह जमुनवा की पिटाई कर देते हैं । "मन्ने" द्वारा जमुनवा की पीटा जाना प्रकारान्तर से उच्च वर्ग द्वारा शोषित, दलित, विवश वर्ग पर कहर ढाना है।वैचारिक रूप से इसी वर्ग की पक्षधरता लेने वाला मन्ने व्यवहारिक रूप से अपनी ही वैचारिकता के विरोध में जा खड़ा होता है । यह मध्यवर्गीय द्वन्द्वग्रस्त चरित्र का उद्घाटन है । केन इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त होकर ईमानदारी में विश्वास रखने वाला मन्ने रिश्वत लेकर शहर में कपड़े के दो-तीन हथकरघे चलाकर एक छोटा पूँजी-पति बनकर शोषण की प्रक्रिया में शामिल हो जाता है । केवल इतना ही नहीं निम्नवर्गीय बसमतिया से अवैध सम्बन्ध स्थापित करके उसे गर्भवती कर गृह कलह से भयभीत होकर अपने एक तरफा सामन्ती निर्णय से बसमतिया को रूपये देकर पीछा छुड़ा लेता है।विवश बसमतिया अपनी झोली में नादान, मासूम को सामाजिक सम्मान का अधिकार नहीं दिला सकती । बसमतिया के प्रति कड़ा दृष्टिकोण मन्ने की अमानवीयता की चरम सीमा का स्पर्श कर जाता है । प्यार भरे वायदे करने वाला मन्ने, उसके कदमों में जमाने भर की खुशीयाँ लुटा देने वाला मन्ने, पत्नी के झगड़े के डर से सहमा हुआ बसमतिया के पिता भिखरिया को रूपये देकर बसमतिया को जनाने की तरफ न आने का आदेश देता है – "समझा देना उन्हें अच्छी तरह कि फिर कभी जनाने की तरफ रुख न करे । कोई जरूरत हो तो तुम्हीं जाया करो ।"[1]

---

1. भैरवप्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ॰-563.

इस आदर्श और व्यवहार की जिन्दगी के दोहरेपन को भैरव जी ने "सती मैया का चौरा" में मन्ने के माध्यम से बहुत ही सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है। मन्ने का यह दोहरा चरित्र पूरे मध्यमवर्ग को उसके खोखलेपन के साथ उजागर करता है, जिसकी भीतरी बौद्धिक कशिश उसे कुछ नया करने या नया सोचने हेतु विवश करती है परन्तु व्यवहारिक जिन्दगी में आए तुच्छ से संकट उसे पथ से विचलित करते हैं। मध्यवर्गीय चरित्र भीतर ही भीतर भौतिक सुविधा लोलुप, शारीरिक संघर्ष से बचने की उसकी प्रवृत्ति, उसके चरित्र को आवरण में लपेटती है। उसकी सोच कुछ अलग है, व्यवहार कुछ और। यद्यपि भैरवप्रसाद का उद्देश्य मध्यवर्गीय चरित्र की कमजोरियों की बखिया उधेड़ना नहीं रहा फिर भी प्रसंगवश जहाँ भी मौका मिला है, उससे चूके नहीं हैं।

आनन्द प्रकाश ने "भैरव के उपन्यासों में ग्रामीण यथार्थ" नामक लेख में "सती मैया का चौरा" के व्यापक सन्दर्भों का मूल्यांकन करते हुए इस उपन्यास को भैरव की लेखनी का चरमोत्कर्षक बिन्दू तो मानते ही हैं; साथ ही साथ स्वतन्त्रता के पश्चात के उपन्यासों में भी इसे चुनौती मानते हुए लिखते हैं – "स्वतन्त्रता पश्चात के समूचे कथा साहित्य में भी इस उपन्यास का स्थान बहुत ऊँचा है क्योंकि अपने समसामयिक समाज में उभरती हुई उर्ज्वा शक्ति और उसके साथ-साथ पैदा होने वाली तमाम विकृतियों का यहाँ विस्तार से विश्लेषण हुआ है और लेखक ने गाँव के समसामयिक ढाँचे के साथ-साथ धर्म, सांस्कृतिक मूल्य, पात्रों के संश्लिष्ट चारित्रिक विकास आदि को एक वृहत ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। इससे न केवल गत्यात्मक यथार्थ पर उनकी पकड़ मजबूत हुई है, बल्कि मानव व्यक्ति के विकास या पतन की सम्भावनाओं की ओर गहराई से पहचानने-समझने की क्षमता विकसित हुई है।"[1]

---

1. सं0-विद्याधर शुक्ल – भैरवप्रसाद गुप्त : व्यक्ति और रचनाकार में आनन्द प्रकाश के लेख – "भैरव के उपन्यासों में ग्रामीण यथार्थ," पृ०-112.

§ग§ "आग और आँसू" उपन्यास में सामाजिक चेतना

§अ§ पण्डे-पुरोहितवाद के प्रति अनास्था

भैरव जी का स्पष्ट मानना है कि जमींदार या पूँजीपति का धर्म से लगाव, आत्मशुद्धि या जगतशुद्धि के लिए नहीं है । इस वर्ग की धर्मभीरूता के पीछे अपने काले-कारनामों के प्रति जनता की आँखों में धूल झोंकने की मंशा होती है । ये पहले किसानों, मजदूरों के घरों को मरघट में बदलते हैं फिर मन्दिर बनवाकर या पत्थर की मूर्ति हेतु चन्दा देकर लोगों की नजरों में दयालु बनने का ढोंग रचते हैं । इस प्रकार धर्म इस उच्चवर्ग की कालाबाजारी, तस्करी एवं अमानवीय करतूतों को छिपाने में एक बहुत बड़ा एवं सशक्त अस्त्र का काम देता रहा है । धर्म से जुड़कर जितना निर्बाध शोषण और कुकर्म किया जा सकता है अन्य किसी भी शक्ति के सहारे से नहीं । जनता को लूटकर कोई मन्दिर बना दिया जाता है और भ्रमित जनता के भ्रम को गहरा एवं दीर्घजीवी बनाने के लिए कामलिप्सु व स्वार्थी पण्डे-पुरोहित को मन्दिर का प्रधान बनाकर बैठा दिया जाता है । "आग और आँसू" उपन्यास में भैरव जी नें मन्दिर के पुजारी की नैतिक गिरावट की तस्वीर पेश करके पण्डे-पुरोहितवाद की कलई उतारने का प्रयास किया है। "आग और आँसू" का पुजारी बहुत ही स्वार्थी, पेटू व कामलिप्सु व्यक्ति है । अवसरवादी भावना से चालित होकर वह बड़े सरकार व छोटे सरकार की हित कामना हेतु चिकनी-चुपड़ी बातें करता रहता है ताकि उसकी रोजी-रोटी पर आँच न आए । अपनी जठराग्नि की तृप्ति हेतु वह मन्दिर से अपना खर्चा निकाल लेता है तो कामाग्नि शमन हेतु जब-तब मुँदरी पर लार टपकाता रहता है । मुँदरी के साथ हवेली से भागने का प्रस्ताव रखता है तथा उसे छूने का प्रयत्न करता है । वह मुँदरी से कहता है – तू चाहे तो हम दोनों मुक्त हो सकते हैं। मैं तुम्हारे साथ कहीं भी

भाग चलने को तैयार हूँ ।"[1] इतना कहकर पुजारी मुँदरी की तरफ हाथ बढ़ाकर उसे स्पर्श करना चाहता है । पण्डे-पुरोहितों की इसी दोगली चालों से पर्दा उठाकर उसकी स्पष्ट तस्वीर पाठक समुदाय के समक्ष करना भैरव जी का मंतव्य रहा है ।

(घ) सामन्ती जीवन में नारी शोषण के विविध परिप्रेक्ष्य

1956 में प्रकाशित "जंजीरे और नया आदमी" उपन्यास ही 1982 में "आग और आँसू" के नाम से प्रकाशित होता है। इस उपन्यास में न केवल साम्राज्यवाद, सामन्तवाद एवं महाजनवाद की चक्की में पिसते हुए शोषितों की आवाज को बुलन्द किया है बल्कि इसके साथ ही सामन्ती जीवन में नारी, चाहे वह रानी हो या नौकरानी, का अस्तित्व केवल भोग्या होने में निहित है। नारी उस सामंत के पर्यंक की शोभा बनती है, उसकी काम पिपासा शान्त करती है, यही उसके शरीर की सार्थकता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य गुण रखती है तो वे सामन्ती लम्पटता के आगे गौण है । सामन्ती कैद में नारी जीवन असहाय और निरुपाय है। सामन्ती बर्बरता इतनी अन्धी है कि उसे चौदह साल की किशोरी से लेकर चालीस-बयालीस सावन देखी नारी में केवल भोग्या रूप ही दिखायी देता है । "आग और आँसू" उपन्यास में सामन्ती हवेली में जितनी भी नारियाँ हैं, चाहे वह रानी हो अथवा लौंडिया या महाराजिन सभी शोषित हैं, भोग्या हैं, विवश हैं, असहाय हैं, जिनकी निरुपायता के बहुतेरे चित्र उपन्यासकार ने विवेच्य उपन्यास में खींचे हैं —

---

1. भैरवप्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ.-66.

§।§ सामन्तों की कुत्सित वासना की शिकार

कामलोलुप सामन्त अपनी वासनाग्नि-परिगमन हेतु छोटी अबोध मासूम बालिकाओं को अपनी पाशविक शक्ति से रौंदते हैं।उनका कौमार्य भंग करके हमेशा-हमेशा के लिए उनके पैरों में बेड़ियां डालकर बर्बाद होने हेतु छोड़ देते हैं। फिर वे केवल सामन्त या सामन्तों के चहेते मेहमानों की सेज की शोभा बढ़ाती हैं । जब तक जवानी है तब तक भोग का निरन्तर साथ है, जब देह ढ़ीली पड़ जाती है तब वे लातें खाने को विवश हो जाती हैं । हवेली की प्रत्येक लड़की व नारी सामन्त की भोग्या बन चुकी है। "आग और आँसू" की एक पात्र "बदमिया" अपनी माँ की मृत्यु के पश्चात् सहारे की तलाश में सामन्त की खूनी पंजो तक पहुँच जाती है । बारह साल की बदमिया रात को बनाव श्रृंगार करके सरकार के पाँव दबाते-दबाते वहीं लुढ़क कर सो जाती है । फिर सरकार उसके शरीर से मनचाहा खेल खेलते हैं।उसके हाथों, पैरों, वक्ष, नितम्ब आदि प्रत्येक अंग को वस्तु की तरह इस्तेमाल करते हैं।बदमिया के सामने उस स्थिति को सहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है । न केवल बदमिया बल्कि हवेली की प्रत्येक औरत इस स्थिति से गुजर चुकी है।अत: बदमिया किससे कहे, क्या कहे ? शरीर नोचते समय सरकार ये भी विस्मृत कर देते हैं वह भी उनकी तरह माँस-हड्डी की बनी सजीव औरत है कोई वस्तु नहीं । सामन्त की पशु प्रवृत्ति को नंगा करती हुई उपन्यास की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं — "बारह साल की उम्र में वह बड़े सरकार की सेवा में लगायी गयी थी । तब से रोज रात में वह इसी तरह बड़े सरकार के पाँव दबाती हुई नींद का झोंका खा लुढ़ककर सो जाती थी । सोये में ही बड़े सरकार उसे अपनी बगल में खींच लेते थे और उसके जिस अंग के साथ जैसा चाहते, करते थे । शुरु-शुरु में नींद खुल जाने पर बदमिया के हाथ मशीन की तरह उठकर विरोध करते ··· लेकिन जंजीरों

की ताकत से लोहा लेना उस असहाय, अनाथ छोकरी के बस की बात न थी ।"[1]

ये सामन्त न केवल स्वयं बल्कि इनके अतिथि जिससे सामन्त का स्वार्थ पूर्ण होता है, उनके आनन्द का भी पूरा-पूरा प्रबन्ध इन्हीं मासूम बालिकाओं की वेदी पर किया जाता है । दारोगा, पटवारी और इन्सपेक्टर किसानों के दमन में सामन्त का साथ देते हैं।इसलिए इनकी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करना सामन्त अपना नैतिक फर्ज मानते हैं।अत: विलास की सभी वस्तुएं सुरा, स्वादिष्ट भोजन व सुन्दरी का प्रवन्ध करके प्रकारान्तर से ये नारी के प्रति अपने वस्तुवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते हैं । उपन्यास के एक अंश में दारोगा की छिछली मानसिकता यूँ व्यक्त होती है —"उस रात जो छोकरी आयी थी, क्या नाम था उसका ? हँसकर बड़े सरकार बोले एक दो हो तो नाम याद रखें, यहाँ तो मौसम बदला और नया फल, कहो तो ··· ।"[2] सामन्ती वर्ग की पाशविकता की सीमा भी वहाँ चूक जाती है जब वे अपनी प्रत्येक नौकरानी को भोग कर जूतों की जगह छोड़ देते हैं । ससुराल से पत्नी के साथ उपहार स्वरूप मिली लौंडी पर तो मानों इनका कानूनी हक हो । हवेली के सरकार के ससुर ताल्लुकेदार भी अपनी पुत्री पानकुँवरि के साथ उसकी हम उम्र सखी व लौंडी मुँदरी को भेंट में देते हैं । विवाह के चार महीने बाद सरकार मुंदरी पर अपनी लार टपकाते हुए कहते हैं — "तू मेरी ससुराल का तोहफा है। इससे पहले कि तुझ पर किसी की आँखें उठे, उन आँखों को मैं फोड़ दूँगा ··· तुझे ही देखकर जरा सब्र होता है वरना तेरी उन सुखण्डी रानीजी में क्या रखा है । हड्डी न चिंचोड़ना, उनके पास सोना ।"[3] मुँदरी के ना-नुकूर करने पर उसे अच्छी वेशभूषा, धन व रानी बनाने का प्रलोभन देकर अपने जाल में फँसा

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ॰- 32.
2. वही, " पृ॰- 29.
3. वही, " पृ॰- 121.

लेते हैं, सामन्ती ताकत के समक्ष उसकी एक नहीं चलती। फलत: वह एक रात की दुलहन बनने को विवश होती है ।

§॥§ नारी का क्रय-विक्रय

सामन्तों ने नारी का क्रय-विक्रय करके अपनी उद्दाम वासना का परिशमन किया । किसी भी किशोरी या जवान सुन्दर लड़की को उसके गरीब माँ-बाप से खरीदकर पहले से खरीदी हुई लौंडी को दूध से मक्खी की भाँति निकाल कर फेंक देते थे । फिर वह चूल्हे चौके तथा बरतन-झाड़ू के काम-धन्धों की संगिनी बन अपना शेष जीवन गुजारती थी । "आग और आँसू" उपन्यास की महाराजिन की जवानी के साथ ऐश करके ढलती देह देखकर उसे रसोई तक सीमित कर दिया जाता है, महाराजिन चूल्हे की तरफ ईशारा करती हुई कहती है —"यह रहा मेरा दुल्हा ।" इस एक वाक्य में सामन्ती क्रूरता को नंगा करने की गजब की शक्ति है । आर्थिक विपन्नता निम्नवर्गीय नारी को उच्च वर्ग की क्रूर देहरी तक स्वत: ही ले जाती है । महाराजिन द्वारा अपने अतीत के बारे में मुँदरी से कहे गये शब्दों से यह तथ्य स्पष्ट होता है —"जब मैं सत्तरह साल की थी, एक दिन मेरा गरीब बाप मुझे यहाँ छोड़ गया । ··· एक रात बड़े सरकार ने मुझे अपने दीवानखाने में बुलाया और जबरन मुझे नास किया । मैं का करती ? बहिन, इसमें उनका का दोस था । दोस तो उस गरीबी का था जिसके कारण वह मुझे यहाँ छोड़ने पर मजबूर हुए थे । बड़े सरकार ने कुछ रुपये देकर मेरे बाप से मुझे खरीद लिया । तब से यही चूल्हा है और मैं हूँ ।"[1]

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ.-

§।।§ दासी कर्म

सामन्ती समाज में उपेक्षिता, प्रताड़िता, शोषिता नारी सामन्तों की पुश्त-दर-पुश्त चाकरी करने को विवश होती है, लौंडी की लड़की लौंडी ही बनेगी भले ही उसका बाप स्वयं सामन्त हो। हवेली की प्रत्येक लौंडी की लड़की का जीवन चीख-चीख कर इस तथ्य की पुष्टि करता है । मुंदरी स्वयं ताल्लुकेदार की लड़की होते हुए भी पानकुंवरि के साथ आकर लौंडीपन का जीवन जीती है तो सरकार से मुंदरी को मिली लड़की सुनरी भी हवेली में ही चाकरी बजाती है।एक बार दासी बन जाने के पश्चात इसकी कड़ी-दर-कड़ी मजबूती ही पकड़ती जाती है । दासी जीवन निश्चित ही लांछनीय जीवन है, आत्म सम्मान विहीन जीवन है, पशुता का जीवन है जहाँ स्वयं की आत्मा से दूर, स्वयं की सांसों से दूर, प्यार भरी कोमलता से दूर, रागात्मक अहसासों से परे, लौंडीपन बहुत कष्टदायक है।मुंदरी की माँ मुंदरी से कहती है — "बेटी मैं तुझे का-का बताऊँ । भगवान राह का भिखारी बनाये, लेकिन किसी को लौंडी न बनाये । बेटी, यह बात हमेशा याद रखना कि लौंडी से एक वेश्या की भी जिन्दगी कहीं अच्छी होती है और बड़ी से बड़ी वेश्या भी एक अदना सी ब्याहता औरत को देखकर सरम से गड़ जाती है । तू किसी के साथ ब्याह कर लेना, जो भी दुख पड़े झेलना, लेकिन लौंडी की जिनगी हरगिज न जीना ।"[1]

§ § नारी के प्रति वस्तुवादी दृष्टिकोण

सामन्ती घरानों में नारी जीवन का समष्टिपरक मूल्यांकन करने पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि नारी वहाँ भोग की अन्य वस्तुओं

---

1. भैरवप्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ.-

जैसे नित नये पकवान, शराब, सुन्दर वस्त्र आदि की भाँति सर्वश्रेष्ठ भोग की सामग्री है सुन्दर और जवान लड़की इन सामन्तों के चंगुल में फंसेगी ही यह जाना-माना तथ्य है।सामन्त के घराने में पैदा हुए लड़के भी विरासत स्वरूप इन लौंडियों को सामग्री समझते हुए छेड़ते हैं, चिचोड़ते हैं और भोगते हैं । भोली-भाली अबोध बालिकाएं उस शारीरिक स्पर्श को प्यार का संकेत मानकर उन्हें शारीरिक एवं मानसिक रूप से समर्पित हो जाती हैं, बहुत बाद में पता चलता है कि इस तरह का प्यार वे राह चलती हुई प्रत्येक लड़की को जताते हैं । मुंदरी की लड़की सुनरी भी अपने भोलेपन के कारण "लल्लन" की छेड़छाड़ को प्यार समझ कर वियोग में उसकी याद में आँसू बहाती है।वह लल्लन की प्रत्येक अश्लील हरकत को कामप्रेरित न मानकर उसे प्रेम समझ बैठती है । बदमिया द्वारा समझाने पर उसकी आँखें खुलती हैं — "किसी से ना कहना । सब हँसेगी और तुझे पागल बतायेंगी । अरे, बाप रे, कैसी भोली है तू । ई लोग हमा-सुमा से ब्याह करेंगे । ई लोग तो हमा सुमा की जिनगी खराब करने के लिए ही पैदा होते हैं, पगली और तू उससे दिल लगा बैठी । ई लोगन के बदले पेड़-रुख से दिल लगाया जाए, तो अच्छा ।"[1] इन लोगों के यहाँ केवल दासियाँ ही नहीं अपितु रानी को भी वही स्थिति होती है।रानी यदि जवान सुन्दर है तो उसे अनवरत भोगा जाता है यदि विकारग्रस्त या ढीली देह वाली है तो बुरी तरह तिरस्कृत होती है । "पानकुँवरि" रानी को दौरे पड़ते हैं तब सामन्त का रवैया निहायत ही बर्बरता की सीमाओं को पार कर जाता है । वे कहीं भी रानी की पीड़ा से आहत नहीं होते बल्कि अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में व्याघात पड़ते हुए देखकर नाराज होते हैं, कुढ़ते हैं, भुनते हैं । दारोगा साहब की उपस्थिति में रानी जी को दौरा पड़ने पर "सरकार" पाँच मिनिट के लिए अन्दर जाते हैं और पुन: बैठक में आ जाते हैं।

---

1. भैरवप्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ.- 200.

तब दारोगा उनके शीघ्र आगमन पर आश्चर्य व्यक्त करता है तो सामन्त जबाब में अपने बहुत ही गैर संवेदनशील स्वभाव की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं — "क्या करें दारोगा साहब, एक दिन की बात हो तो, यह तो जिन्दगी भर का रोग है कौन कहाँ तक सर दे ।"[1] एक अन्य स्थान पर तो उनका दृष्टि-कोण अमानवीय तक हो उठता है वे कहते हैं — "परेशानी को तो मैं हवेली में छोड़ आया हूँ आप अपनी बात कहिए ।"[2]

मुँदरी को अपने दीवानखाने में ऐयासी के लिए बुलाने पर उससे बात-चीत में सरकार रानी के प्रति अपनी उकताहट व्यक्त करते हुए अपनी वस्तुवादी दृष्टि का ही परिचय देते है — "तुझे ही देखकर जरा सब्र होता है वर्ना तेरी उन सुखण्डी रानीजो में क्या रखा है हड्डी न चिचोड़ना, उनके पास सोना । क्यों री यह बेहोशी की बीमारी उन्हें वहाँ भी होती थी ?"[3]

इस प्रकार भैरव जी "गंगा मैया" उपन्यास में विधवा भाभी का अपने अधिकारों के लिए द्वन्द्वग्रस्त चरित्र दिखाकर तथा भाभी की सास द्वारा बिरादरी-वाद का विरोध करवाकर पुरातन सामन्ती मूल्यों पर प्रहार करते हुए सामाजिक चेतना का परिचय देते हैं, तो "सती मैया का चौरा" में मध्यमवर्गीय नारी एवं निम्नवर्गीय नारी की सामाजिक स्थिति का वर्गीय दृष्टिकोण से आकलन करते हुए मध्यमवर्गीय चरित्रों के दोहरेपन को उजागर करते हुए सामाजिक चेतना के बोध को स्पष्ट करते हैं । "आग और आँसू" उपन्यास में एक तरफ पण्डे पुरोहितवाद के छुपे हुए घिनौने चरित्र की बखिया उधेड़ कर ग्रामीण अन्ध-मान्यताओं पर प्रहार करने की कोशिश की है तो दूसरी तरफ सामन्ती हवेली में नारी-शोषण के विविध स्वरूपों का उद्घाटन करते हुए सामन्तों के अति भोग-वादी आचरण को उसकी तमाम विसंगतियों के साथ स्पष्ट किया है । इन्हीं

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ.- 25.
2. वही, " पृ.- 26.
3. वही, " पृ.- 121.

विविध घटित घटनाओं के माध्यम से भैरव जी ने उपन्यासों में अपना स्पष्ट दृष्टिकोण रखते हुए अपनी सामाजिक चेतना का परिचय दिया है ।

****

अध्याय - छः

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में आर्थिक चेतना

(अ) शहर के व्यापार, व्यवसाय

(ब) जमींदार-कृषक सम्बन्ध

(स) शोषण का चित्रण

अध्याय - छः

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में आर्थिक चेतना

(क) "गंगा मैया" उपन्यास में आर्थिक चेतना

भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियों से अधिक उनके उपन्यास और नाटक में उनकी लेखनी हर पल उन गरीब विक्षा, भूखे, नंगे, बे-घरबार मजदूरों व आकण्ठ ऋण के गर्त में डूब रहे उन भूमिहीन कृषकों का प्रतिनिधित्व करती है जो दिन में अट्ठारह घंटे कार्य करके भी दो जून की रोटी नहीं जुटा पाते । अपने मासूम छोटे-छोटे बच्चों के मुख से आधा कौर छीनकर वे साहुकार का ब्याज चुकाते हैं और व्यवस्था उन्हें फिर हाथ फैलाकर उन्हीं साहुकारों के सामने खड़े होने पर मजबूर कर देती है । अतः वही क्रम बेरोक-टोक चलता रहता है।यह शोषण उन्हें दुखी करता है । उनकी लेखनी अपनी अभिव्यक्ति के लिए पीड़ितों की कराह से व्याकुल रहती है । "गंगा मैया" उपन्यास में भैरव जी ग्राम्य कृषकों के शोषण के प्रति आहत है । भारतीय जमींदार, महाजन व सरकारी कर्मचारी अंग्रेजी शासकों की मुट्ठी गर्म करके भोले-भाले निरीह कृषकों के शोषण पर आमादा है, भैरव जी व्यक्ति-व्यक्ति के, इस असमानता की साजिश का ध्वंस करना चाहते हैं। वे शोषितों, दलितों व सर्वहारा के हिमायती है ।

आजादी से पूर्व भारत में साम्राज्यवादी अंग्रेज, पूँजीपति और जमींदारों के त्रिकोणात्मक उत्पीड़न ने जनता को खाक में मिला दिया । जन-आन्दोलन की कड़ी तपस्या के पश्चात भारत आजाद हुआ । स्वतन्त्रता के साथ ही साथ अंग्रेजी साम्राज्यवादी शोषण से तो छुटकारा मिला परन्तु शहरों में पूँजीपति और गाँवों में जमींदारों का आज भी वैसा ही शोषण का ढर्रा चल रहा है । स्वतन्त्रता के पश्चात देश के विकास का प्रश्न सबसे अहम् प्रश्न था । कृषकों, मजदूरों को सामंती शोषण के क्रूरतम पंजों से मुक्त करने हेतु प्रथम पंचवर्षीय योजना के तहत जमींदारी उन्मूलन हुआ यद्यपि कृषकों की हालात में सुधार लाने हेतु इस योजना का क्रियान्वन किया गया था परन्तु सामन्ती शोषण की प्रक्रिया बहुत ही उलझी व लम्बे हाथों वाली थी । सरकारी कार्यालयों में जमींदारों के कार्यरत भाई-भतीजों ने भू-स्वामियों की खेती की हदबन्दी को बेमानी करने में दो पल भी नहीं लगाए अतः पुरातन शोषण की प्रक्रिया अपनी गति से प्रवाहमान रही । भैरव जी "गंगा मैया" में स्वातन्त्र्योत्तर भारत में जमींदार-कृषक सम्बन्धों को अपनी तीखी पैनी दृष्टि से देखते हैं । कृषकों के शोषण से क्षुब्ध होकर उन्हें क्रान्ति का परचम सुनाते हैं तथा एक ऐसी व्यवस्था में विश्वास रखते हैं जो मनुष्य का मनुष्य द्वारा हो रहे शोषण का खात्मा करके व्यक्ति को अपने अधिकारों के साथ जीने का मौका देती है ।

(अ) <u>कृषक - जमींदार संघर्ष</u>

स्वतन्त्रता के पश्चात शोषित वर्ग में अपने अधिकारों के प्रति कुछ चेतना जगी । शोषकों के खिलाफ इस वर्ग ने अपने मानस में आत्म-विश्वास का भाव पैदा कर संगठनों का निर्माण कर लड़ाई का बिगुल बजाया और सजग रचनाकारों ने इस विषय को अपनी कृतियों का विषय बनाया । डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त इस सम्बन्ध में लिखते हैं —

"स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासकारों ने इस सर्वतोमुखी जागरण काल में गाँव और समस्याओं से जूझ रहे किसानों को देखा, उनकी जिन्दगी के अभावों के ढ़ेर यातनाओं के संकट को अनुभव किया और संवेदनाओं के स्तर पर उन्हें अभिव्यक्ति दी ।"[1] "गंगा मैया" में उपन्यासकार ने बलिया जिले के एक गाँव में किसान-जमींदार संघर्ष को उदयशील साम्यवादी चेतना के परिप्रेक्ष्य में अंकित किया है । स्वातन्त्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में जमींदार निम्न जाति के लोगों को काश्त के लिए भूमि देकर उनसे मुँहमांगा पैसा वसूल करते हैं । अपने शोषण को खतरे से बाहर करने के लिए सरकार को भी एक हिस्सा लगान में देकर राज्याश्रय प्राप्त कर लेते हैं।जमींदार-कृषक में मनमुटाव की यही वजह है । "गंगा मैया" का प्रमुख पात्र "मटरू" साम्यवादी चिन्तन से प्रेरित होकर किसानों में वर्ग चेतना का अध्याय पढ़ाना आरम्भ करता है, किसान सभाओं की स्थापना कर उन्हें संगठित होने की सीख देता है । शोषण विहीन जीवन की सरलता के स्वप्न दिखाकर गाँव के तमाम शोषित कृषकों को जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने के लिए तैयार कर लेता है ।

"मटरू" गंगा की कछारी भूमि जो बंजर है उस पर अपनी झोपड़ी बनाकर गंगा के दीयर की क्वारी मिट्टी पर जी-तोड़ मेहनत कर अपना गुजारा करता है।भूमि बंजर होने के कारण उससे उत्पन्न हुए सरकण्डे बेचकर जमींदार धन हड़प जाते थे परन्तु "मटरू" सामन्ती भय त्यागकर अपनी मेहनत पर केवल अपना हक मानकर बिना जमींदारों से परामर्श किए उस भूमि पर लगन से खेती करता है । "मटरू" को बेलाग, उन्मुक्त खेती करते हुए देखकर भोले किसान जमींदारों के पास उसी जमीन के बन्दोवस्त के लिए रकम देकर अपना नाम दर्ज करवाते हैं । चूँकि युगों से प्रताड़ित कृषक इस बिचौलिये के

---

1. डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त - स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ०- 50.

बिना खेती से अन्न उत्पादन करने की बात मन में ही नहीं ला सकते । "मटरु" चूँकि मार्क्सवादी चेतना सम्पन्न कृषक है, वह अपने श्रम पर अपना अधिकार समझता हुआ किसी भी बाधाकारी मध्यस्थ शक्ति को चींटी की भाँति कुचलने में विश्वास रखता है।इसलिए वह उन निपट भोले किसानों को भी गंगा की दीयर पर निर्बाध उत्पादन करने के लिए आमन्त्रित करता है तथा जमींदारों से दिया हुआ लगान वापस माँगने को उकसाता है । जमींदारी बन्दोवस्त को जनवादी हकों के खिलाफ साजिश मानता हुआ "गंगा मैया" पर नाजायज जमींदारी आधिपत्य के विरोध में अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहता है — "मर्द होकर माँ की छाती पर मूँग दलते देखूँ, यह कैसे होता ? गंगा मैया की छाती पर मेड़े न खींचे, वहाँ सबका बराबर अधिकार है ।"[1]

आज तक कृषक जिस तथ्य से अनभिज्ञ थे, वे अब ही जमींदार से लड़ने हेतु एकमत होकर "मटरु" को सर्वसम्मति से अपना नेता मान लेते हैं । जमींदार मटरु के दबंग व्यक्तित्व से भीतर ही भीतर भयभीत हैं।वे समझते हैं कि मटरु ने जन-चेतना का जो स्फुरण इन अज्ञानी कृषकों में फैलाया है, वह भयंकर विस्फोट का रूप ले सकता है।इसलिए वे उस चेतना केन्द्र मटरु का ही सफाया करना उचित समझते हैं । सरकारी ढाँचा जमींदारों के टुकड़ों पर पल रहा है, उन्हीं के ईशारों पर नृत्य करने वाला पुलिस विभाग मटरु को झूठे ही डाके के आरोप में तीन साल की सजा सुना देता है । परन्तु मटरु द्वारा फूंकी हुई जन-चेतना कृषकों में इतनी गहराई से गूँजती है कि वे मटरु के जेल प्रवास के समय भी संगठित रहकर जब-तब जमींदारों से लोहा लेते रहते हैं । प्रत्येक कृषक का स्वप्न होता है "मटरु" जैसा दबंग व्यक्तित्व, प्रत्येक कृषक की प्रेरणा होता है मटरु का जीवन । जमींदारों के जालियाना अत्याचारों की बढ़ोत्तरी

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - गंगा मैया, पृ॰- 32-33.

के साथ ही साथ कृषकों के संगठन में अधिक मजबूती व सामूहिकता की भावना विकसित व पल्लवित होती है । "मटरू" के रूप में "मटरू" की पत्नी का भाई "पूजन" मटरू का ही रूप ग्रहण कर कृषकों का नेतृत्व करता है । जमींदार सरकारी कर्मचारी एवं पुलिस की सहायता से अपनी पुरानी रीति (दमन) का सहारा लेते हैं परन्तु दोयर और तिरवाहों के हजारों कृषकों के संगठन के सामने पुलिस कुछ नहीं कर पाती । इस प्रकार कछारी भूमि पर सामूहिक अधिकार प्राप्त कर किसान जमींदारों पर विजय प्राप्त करते हैं ।

(ब) श्रमिकों, कृषकों का हित चिन्तन

भैरव प्रसाद की लेखनी हर शोषित की टीस, बेचैनी, छटपटाहट और भुखमरी को अपने लेखन में उकेरती है । "गंगा मैया" में लाखों भूखे, नंगे, अनपढ़, भूमिहीन, अत्याचारों से पीड़ित जन रचना का विषय बने हैं । अपने बाल-बच्चों एवं स्वयं का पेट काटकर अपने स्वेद से उपजा अन्न भी जमींदारों के घरों में भरा जाता है, फिर भी महाजन का कर्ज नहीं चुकाया जाता । खाने-पीने के नाम पर मालिक की बची-खुची जूठन, हर पल एक टांग पर खड़े होकर मालिक का हुकुम बजाना यही है एक शोषित, दलित की जीवन की तस्वीर । "गंगा मैया" उपन्यास में भैरव जी गंगा की दोयर पर रहने वाले मटरू के माध्यम से जमींदाराना भूमि बन्दोवस्त का विरोध करके गंगा की दोयर पर सभी का समान अधिकार बतलाकर, कृषकों में विद्रोह की भावना प्रज्जवलित कर, सांगठनिक चेतना का संचार कर, जमींदारों के विरुद्ध लड़ाकर अपनी प्रगतिशील चेतना को अभिव्यक्ति करते हैं । उपन्यास में मटरू के व्यक्तित्व से प्रेरित नव-नेतृत्वकारी पूजन सामन्ती विरोध व्यक्त करता हुआ संघर्ष में आस्था रखते हुए अपना वक्तव्य देता है — "तुम्हारे साथी अपने खून की आखिरी बूंद तक से इनकी रक्षा करेंगे । जिस तरह गुजरा जमाना वापस नहीं आता उसी तरह जमींदारों के उखड़े पैर यहां फिर कभी न जम पाएँगे ।

हमारा जोर दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, हमारे साथी बढ़ते जा रहे हैं, जमाना आगे बढ़ रहा है।यहाँ आज हर किसान मटरु बनने की तमन्ना रखता है ।"[1]

(स) न्याय विभाग एवं राजकर्मचारियों द्वारा शोषण

किसानों के शोषण की प्रक्रिया जमींदार, महाजन तक ही नहीं सिमटी अपितु सरकारी कर्मचारी जैसे तहसीलदार, कानूनगो, पटवारी तथा पुलिस कर्मचारी किसानों के लिए हिंसक पशुओं से कतई कम साबित नहीं होते। इनकी एक ही चोट कृषकों को घायल करने में सफल होती है।जमींदार अपने शोषण के शिकंजे को पक्का करने हेतु न्याय विभाग की मुट्ठी गर्मा कर सरकारी प्रश्रय पा लेता है इस प्रकार निडर, निर्बाध शोषक का पहिया घूमता रहता है ।

"गंगा मैया" उपन्यास में साम्यवादी चिन्तन से प्रेरित मटरु जब कृषकों में विद्रोह की चेतना के परचम की तान छेड़ता है तो जमींदार पुलिस के साथ मिलकर मटरु के खिलाफ डाके का मुकदमा चलाकर "मटरु" के नाम वारंट जारी करके तीन साल की सजा सुना देती है, जबकि मटरु निरपराध होता है । केवल इतना ही नहीं मटरु के जेल प्रवास के दौरान "पूजन" के नेतृत्व में कृषक संगठन से भी पुलिस की मुठभेड़ होती ही रहती है । जमींदार-कृषक संघर्ष में सरकारी कर्मचारी हरदम जमीदारों का ही पक्ष लेते हैं क्योंकि दोनों की प्रवृत्ति खून चूसने की होती है । सामान्यत: ये एक दूसरे को अधिकाधिक सहुलियत, सुविधाएँ देकर एक दूसरे के हितों की रक्षा में जुटे रहते हैं । इनकी इस घपलेबाजी का शिकार अज्ञानी, निरपराध, भोला किसान होता है।इस प्रकार कृषक जमींदारों से प्रत्यक्षत: और सरकारी विभाग से परोक्ष रूप से

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - गंगा मैया, पृ॰- 137.

दोहन के शिकार होते ही रहते हैं ।

(ख) "सती मैया का चौरा" उपन्यास में आर्थिक चेतना

"सती मैया का चौरा" स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात के भारत में 1947 से 1950 तक की समस्त परिस्थितियों को पृष्ठभूमि में लेकर भारतीय समाज को उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करने का बड़ा ही सार्थक प्रयास है । 1850 से प्रथम विश्वयुद्ध तक का भारतीय आर्थिक ढांचा कुटीर उद्योगों के ध्वंशावशेषों पर पूँजीवाद के फलने-फूलने, विकसने की दर्द भरी कहानी है । भारतीय कारीगर, हस्तशिल्पी, व जुलाहे देखते-देखते बेरोजगार हो गये । पूँजीवाद ने छोटे-छोटे भारतीय व्यवसायियों को बाजार में बिकने हेतु खड़ा कर दिया । अब तक जो मनुष्य अपने छोटे-छोटे उद्योगों से जैसे-तैसे काम चला रहा था, बाजार व्यवस्था से अनभिज्ञ रहता अपनी जिन्दगी बसर कर रहा था वह मजबूरन बाजार में खड़ा हो गया । अपने श्रम से उत्पादित वस्तु से अतिरिक्त मूल्य हड़प कर पूंजीपति मालामाल हो रहा था और श्रमिक अपनी ही उत्पादित वस्तु को अपनी ही जेब की औकात से परे पाकर एक विद्रोही चेतना से प्रेरित हो रहा था तो दूसरी तरफ गाँवों में आजादी के पश्चात भी किसान-जमींदारों के सम्बन्धों में कोई खास परिवर्तन नहीं आया । किसान आज भी शोषित है, भुखमरी का शिकार है, अकाल-सूखे की चपेट में है। भैरव प्रसाद गुप्त नें किसानों-मजदूरों के शोषण, उत्पीड़न से बचाव हेतु विद्रोही चेतना के उद्बोधन से शोषक वर्ग के खिलाफ संगठन बनाकर लड़ने का मादा तैयार करने के लिए प्रेरित करते हैं । श्रमिक वर्ग की एकता, संगठन व लड़ने की शक्ति ही इन्हें अपने अधिकारों के उपभोग हेतु स्वतन्त्र कर सकती है अन्यथा शोषक वर्ग की बेड़ियों की जकड़ उन्हें धीरे-धीरे कसती जाएगी और एक क्षण ऐसा आएगा जब व्यक्ति अन्तिम कसाव से जिन्दगी को जूझते देखेगा । विवश असहाय, निरुपाय ।

"सती मैया का चौरा" में संघर्षशील "मुन्नी" और मन्ने के माध्यम से रचनाकार ने अपनी विद्रोही सांगठनिक चेतना को स्पष्ट करते हुए वर्ग चेतना के माध्यम से संघर्ष में विजय पाने में आस्था व्यक्त की है । "मन्ने" गाँव में व "मुन्नी" शहर में मजदूरों के बीच काम करते हैं । इन दोनों का मानना है कि शोषित वर्ग जब तक अपनी स्थिति से असन्तुष्ट होकर विद्रोही गत्या त्मक रुख नहीं ग्रहण करेगा, कुव्यवस्था के विरोध में अपने दो-चार हाथ नहीं दिखायेगा तब तक उसकी स्थिति में परिवर्तन सम्भव नहीं है ।

(अ) वर्ग संघर्ष

जमींदार सुगन्धीराय द्वारा लगान की दर ड्योढ़ी करने पर गुलाम हैदर के नेतृत्व में गाँव वाले एकत्र होकर बढ़ी हुई दर का विरोध करते हैं । परिणामस्वरूप जमींदार की शह पाकर कारिन्दे लठैत हैदर व उसके अनुगामी समूह से टक्कर लेते हैं। यह संघर्ष पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है जिसमें गुलाम हैदर जैसे तेजस्वी नेतृत्वकारी अनन्त में विलीन हो जाते हैं परन्तु संघर्ष फिर भी अपनी गति पकड़े रहता है ।

वर्ग संघर्ष का दूसरा रूप शहर में प्रेस मजदूरों द्वारा अपनी तरक्की एवं बोनस प्राप्ति हेतु मन्ने के नेतृत्व में की गयी हड़ताल के सन्दर्भ में देख सकते हैं । उपन्यास में आद्योपान्त वर्ग चेतना की आवाज है । वर्गों का स्पष्ट भेद वर्ग संघर्ष को गुणा त्मक रूप से तीव्र करने में अपनी भूमिका स्पष्ट कर रहा है । श्रमिक वर्ग बखूबी मानने लगा है कि बिना संगठन के अपना अस्तित्व कायम रखना भी सम्भव नहीं है। रचनाकार ने वर्ग चेतना के अभ्युदय में शिक्षित मध्यमवर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका को "मन्ने" और "मुन्नी" जैसे चरित्रों की अवतारणा करके स्वीकार किया है । वर्ग संघर्ष को समय का सत्य मानते हुए सर्वहारा को उसकी दुर्दशा से छुटकारा पाने हेतु एकमात्र रामबाण मानते हैं । "एंगेल्स" अपनी

प्रसिद्ध पुस्तक "समाजवाद वैज्ञानिक और काल्पनिक" में वर्ग संघर्ष की निरन्तरता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं —"आदिम समाजवाद को छोड़कर मानव जाति का सारा अतीत इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है और हर समाज के संघर्ष शील वर्ग उस काल के उत्पादन और विनिमय की अवस्थाओं से या एक शब्द में कहें तो उस काल की आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं ।"[1] "मन्ने" गाँव वालों में उदित हो रही इसी चेतना का आकलन करता हुआ उनकी विजय की सम्भावनाओं मे विश्वास जमाता हुआ प्रकारान्तर से रचनाकार की समाजवादी दर्शन में आस्था को स्पष्ट करता है — "अब गाँव की जनता जाग रही है, किसान जाग रहे हैं ··· वे अपनी शक्ति को पहचानने और अपने अधिकारों के लिए लड़ने लगे हैं ··· गाँव की जनता का एका बना रहा लोगों की चेतना विकसित होती रही और गाँव की भलाई के काम होते रहे तो अंतिम विजय इन्हीं की होगी ।"[2]

(ब) सर्वहारा अधिनायकत्व से वर्ग विहीन समाज की स्थापना

"सती मैया का चौरा" में साम्यवादी चेतना सम्पन्न पात्र "मन्ने" और "मुन्नी" कांग्रेस, जनसंघ आदि पार्टियों के नेताओं की भ्रष्ट स्वार्थ-लोलुप मनोवृत्तियों का आकलन करके इस तथ्य को गहराई से महसूस लेते हैं कि वर्तमान व्यवस्था में विशाल सर्वहारा जब तक श्रेणी सजग होकर पूँजीवादी शोषण के हथकंडों के विरुद्ध गुहार नहीं लगाएगा तब तक स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना दूर की कौड़ी ही रहेगी । पूँजीवादी व्यवस्था जिसमें उत्पादन के समस्त साधनों पर पूँजीपति अपना एकछत्र आधिपत्य स्थापित करके सर्वहारा की जिन्दगी में कलह, अशान्ति और अव्यवस्था का जहर घोलती है, मन्ने और

1· फ्रेडरिक एंगेल्स - समाजवाद वैज्ञानिक और काल्पनिक, पृ·- 27-28.
2· भैरवप्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ·- 703-704.

मुन्नी इस व्यवस्था का अन्त कर देना चाहते हैं । उत्पादन के साधनों को व्यक्तिगत आधिपत्य से छीनकर सामाजिक सम्पत्ति घोषित करने हेतु किसानों, मजदूरों के संगठन की आवश्यकता है, क्रान्तिकारी चेतना की आवश्यकता है । मन्ने और मुन्नी के मतानुसार किसानों-मजदूरों के राज से ही वर्गभेद और श्रेणीभेद का खात्मा सम्भव है क्योंकि उस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व श्रम पर निर्भर होगा । वहाँ ऐसा कोई व्यक्ति अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकेगा जो दूसरों के श्रम पर अपनी जीविका को सम्पन्न करने का दूषित विचार भी मन में लाता है।इस सम्बन्ध में स्तालिन का वक्तव्य उद्धरण योग्य है — "पूंजीवादी झण्डे के नीचे स्थापित जनतंत्र पूंजीवादी जनतन्त्र है । वह अल्प संख्यक शोषकों का जनतंत्र है जो बहुसंख्यक शोषितों के विरुद्ध और उनके अधिकारों का गला घोंट करके स्थापित किया गया है । सर्वहारा वर्ग के एकाधिपत्य में ही शोषित जनता को वास्तविक स्वाधीनता मिल सकती है ।"।

भैरव प्रसाद का चिन्तन साम्यवादी चिन्तन से ओतप्रोत है वे मनुष्य जीवन की तमाम विसंगतियों का खात्मा समाजवादी व्यवस्था में ही देखते हैं क्योंकि वही एकमात्र ऐसी व्यवस्था है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति श्रम करके अपने श्रमानुसार बिना मुनाफा या धन हड़पने की लालसा रखे मानसिक शक्ति और व्यवस्था से अपनी जिन्दगी बसर करेगा । वर्ग विभक्त समाज जैसी उठाव-पटक, मानसिक अशान्ति, कलह, द्वेष, मन-मुटाव और पाशविक प्रवृत्तियों से छुटकारा केवल उसी समाज व्यवस्था में मिल सकता है।विवेच्य उपन्यास में "मन्ने" किसानों-मजदूरों के राज की स्थापना का आकांक्षी है।गाँव में हुए साम्प्रदायिक दंगे उसकी मानसिकता को बेचैन कर धरातल में सोचने को विवश करती है।मन्ने अन्तिम निर्णय पर पहुँचता हुआ अपना विश्लेषण व्यक्त करता

।· स्तालिन - लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त, पृ·-40.

है — "साम्प्रदायिकता का इलाज केवल वर्ग चेतना है । उपदेश नहीं, सुधार नहीं, धर्मों का समन्वय नहीं । ··· हम आज एक धर्म निरपेक्ष राज्य में रह रहे हैं । हुँ: । काश, विधान बनाने वाले आज का यह दृश्य देखते । विधान कानून बना लेने से क्या होता है ? ··· नहीं-नहीं, इस सब से कुछ नहीं होने का । केवल वर्ग चेतना, वर्ग चेतना । ··· इस मर्ज का एक यही वाहिद ईलाज है, वर्ग चेतना । ··· वर्ग संघर्ष । ··· क्रान्ति । ··· किसान और मजदूरों का राज : ··· ।"[1]

(स) सरकारी संस्थानों में व्याप्त भ्रष्टाचार

विभिन्न सरकारी कार्यालय जनता में सुव्यवस्था बनाये रखने एवं सुविधा देने हेतु निर्मित किए गए परन्तु इनमें कार्यरत प्रत्येक कर्मचारी व ऊपर का तबका इतना भ्रष्ट हो गया है कि वह सरकारी तन्त्र को अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति हेतु साधन मात्र मानता है । सरकारी कर्मचारी अपनी आय से ही सन्तुष्ट नहीं होते अपितु इन्हें ऊपर की कमाई का ऐसा चस्का लगा होता है कि इसके लिए ये तिकड़म भिड़ाते, अहसान जताते, काम की जटिलता बताते हुए ही नजर आते हैं। विवेच्य उपन्यास में "मन्ने" की केन इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्ति होने पर मन्ने के ईमानदार, भ्रष्टाचार विरोधी आचरण को अफसरों की घूसखोरी की प्रवृत्ति बेचैन कर देती है । मन्ने को भी उस भ्रष्ट समूह में शामिल होने का आमन्त्रण मिलने पर उसके नैतिक मानदण्ड व आर्थिक परेशानियाँ एवं मध्यवर्गीय सुविधाभोगी प्रवृति के मध्य द्वन्द्व पैदा होता है। अन्त में मध्यवर्गीय मौकापरस्ती की विजय होती है जो ढुलमुल नैतिक मान-दण्डों को दरकिनार कर अपने वरिष्ठ अफसरों की चाल चलने को विवश कर देती है। मन्ने घूस लेकर अपना बैंक बैलेंस बनाकर ससुराल में दो-तीन हथकरघे

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ॰-665.

का व्यवसाय कर बुनकरों को नियुक्त कर एक छोटा पूंजीपति बन अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि के विरोध में जा खड़ा होता है यद्यपि यहाँ तक पहुँचने से पूर्व मन्ने मानसिक रूप से एक लम्बे संघर्ष की प्रक्रिया से गुजर चुका है —

" ··· उसने मैनेजर से साफ-साफ क्यों नहीं कह दिया कि उसे अपनी तनख्वाह के सिवा कुछ नहीं चाहिए, उसे क्वार्टर की जरूरत नहीं, वह अपने फायदे के लिए किसानों का गला रेत नहीं सकता ··· वह ईमानदार आदमी है, हराम की कमाई उसे नहीं चाहिए ··· किसानों की जो लूट मिल में होती है वह उससे बचाएगा ।"[1]

द्वन्द्वोपरान्त भी मन्ने अपने लोभ का संवरण न करके प्रति महीने घूस के रूप में चीनी की बोरी के बजाय नकद रुपये लेने लग जाता है । मन्ने प्रगतिशील विचारक होता हुआ भी अपने सामन्ती सुविधाभोगी संस्कारों को पूर्णतया नहीं छोड़ पाता और शोषणकर्ताओं की पंगत में जा खड़ा होता है। इस प्रकार एक नहीं लगभग सभी संस्थानों में जनहितों के नाम पर अपने तवे के उपर की रोटी सेकने के लिए गुपचुप घपलेबाजी होती रहती है। निरीक्षण-परीक्षण की बात ही बेमानी है जब पूरा ढाँचा ही भ्रष्ट है ।

§ग§ "आग और आँसू" उपन्यास में आर्थिक चेतना

सामन्ती व्यवस्था के अन्त: पुर में जहाँ नारी का बेलाग शारीरिक एवं मानसिक शोषण किया जाता है वहीं अन्त:पुर के बाहर श्रमजीवी किसानों के शोषण पर ही जमींदार अपना आर्थिक सन्तुलन बनाये रखते हैं। ये सामन्त अपनी विलासिता पर अपार धन अपव्यय करते हैं और इस अपव्यय का भार ढोना पड़ता है कृषकों को, जिनकी कमर पहले से ही टूटी होती है। इन्हीं पर

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ॰- 466.

तरह-तरह के लगान लगाकर भूमि से बेदखली करके बन्धुआ मजदूर बनाकर एवं अनेक प्रकार के करों के माध्यम से श्रमशील जनता में असन्तोष पैदा करते हैं भैरव जी "गंगा मैया" सती मैया का चौरा व अन्य उपन्यासों की भाँति "आग और आँसू" में भी जमींदारों की इस अमानवीय परजीवी प्रवृत्ति को उद्घाटित करते हुए जनता में साम्यवादी चेतना का प्रचार करना चाहते हैं। उपन्यास में चतुरी, रमेसर आदि कुछ नवयुवक पुरातन ढाँचे पर प्रहार करके किसानों में सांगठनिक भावना पैदा कर जमींदारों के विरुद्ध अपने अधिकारों की लड़ाई हेतु एक कर देते हैं। इस चेतना का प्रचार-प्रसार उपन्यास का उद्देश्य भी बन गया है ।

(अ) कृषक - जमींदार सम्बन्ध

जमींदारी व्यवस्था में जमींदार-कृषक सम्बन्ध शोषक-शोषित पद्धति पर आधारित होते हैं । कृषक उत्पादनकर्ता होता है, जमींदार उपभोक्ता । कृषक अपनी पत्नी, बच्चों एवं भाई बन्धुओं सहित उत्पादन हेतु दिन-रात पसीना बहाता है तो जमींदार अपने परिवार सहित किसानों द्वारा बहाये गये उस पसीने पर ऐयासी करते हैं। जिन किसानों के पास भूमि नहीं होती वे भूमि काश्त के लिए जमींदार के पास जाने को विवश होते हैं। जमींदार भूमि पर दुगुना-तिगुना लगान वसूल करता है इसलिए रुपये के अभाव में कृषक महाजन की शरण लेता है । महाजन दुगुना-तिगुना ब्याज वसूल कर रुपये उधार देता है तिस पर अकाल, बाढ़, सूखे आदि को लगान वसूली में मध्य नज़र नहीं रखता क्योंकि उसका मानना है कि अकाल या सूखा जमींदार के प्रकोप से नहीं बरपा बल्कि यह दैवी प्रकोप है, जिससे वह स्वयं भी प्रभावित है। अत: वह लगान वसूल करेगा ही बेशक अन्न का एक दाना भी नहीं उपजा हो, महाजन ब्याज सहित रकम वसूलेगा ही भले ही उसके पास फूटी कौड़ी न हो । जमींदार-महाजन की इस दो पाटों की चक्की के बीच किसान पिसता जाता है और अन्त में विवश होकर अपने परिवार सहित बंधुआ मजदूर बन जाता है। फिर वह कभी

उस जीवन को छोड़ना भी चाहे तो नहीं छोड़ पाता बल्कि उसकी होने वाली सन्तान भी स्ववालित सी उस प्रक्रिया में बिंध जाती है ।

भैरव जो "गंगा मैया" की भाँति इस उपन्यास में भी किसान जमींदार सम्बन्धों की बर्बर यातनाओं की एक झलक दिखाकर कृषकों की संगठित चेतना में विश्वास रखते हैं। "आग और आँसू" में भी चतुरी, रमेसर व महावीर गाँव में सभाओं का आयोजन कर संगठनों के निर्माण हेतु भाषण देते हैं, उनकी समस्याएं सुनते हैं, और अधिकारों की प्राप्ति हेतु मरने-मिटने को तैयार रहने की भावना का विकास करते हैं परन्तु नेतृत्वकारी इन भाषणों और सभाओं के लिए स्वतन्त्र नहीं है। जमींदार अपने ढाँचे पर किसी दरार की सम्भावना को भी अपने पैसे पर पलने वाले विभागों की मदद से उन प्रगतिशील शक्तियों का दमन करवाते हैं। "आग और आँसू" में भी जमींदारी अन्धी ताकत, अन्धे शोषण व अन्धी बर्बरता के खिलाफ प्रगतिशील जन-चेतना का संघर्ष होता है। सामन्त अपनी सहयोगी अन्तिम शक्ति पुलिस के दारोगा कांस्टेबल को चाँदी का लालच देकर उन शक्तियों का छल-बल से दमन करवाकर उनकी जाँघों, पीठ पर लाठियों की बरसात करते हैं ।

(घ) जमींदारों द्वारा किसानों के शोषण के विविध रूप

(1) बेगार के रूप में

जमींदारों के घरों में बेगारों की एक लम्बी कतार होती है । करों के अतिरिक्त बेगार लेना भी जमींदार अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं बेगार का विरोध करने वाला इनकी पाशविकता का शिकार होता है । डॉ० कमला गुप्ता ने बेगार को परिभाषित करते हुए लिखा है – "बेगार से तात्पर्य ऐसे शारीरिक श्रम से है जो उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग के लोगों से लिया जाता

है तथा जिसका मूल्य नहीं दिया जाता ।"[1] बेगारों की पंक्ति में केवल पुरुष ही नहीं बल्कि औरतें व अबोध बच्चे भी होते हैं । "आग और आँसू" उपन्यास में सभी आसामी सरकार की बेगारी बजाते हैं यदि जमींदार बीघे दो बीघे जमीन किसी को माफी में दे देती है तो इस बेगारी का अन्तहीन सिलसिला चलता रहता है । उपन्यास का एक पात्र "बेंगा" इसी पुश्तैनी बेगारी का शिकार है । बेंगा के बाप को एक बीघा जमीन माफी में मिलती है। उसी के परिणामस्वरूप बेंगा स्वयं, भाई "पेंगा" व पुत्र "चतुरिया" स्वत: ही बेगारी से जुड़े हुए हैं । बेगार प्रथा के कारण कोई गुलाम अपनी सन्तति के लिए बिरासत में धन सम्पत्ति, जमीन-जायदाद नहीं छोड़ता अपितु अन्तहीन गुलामी की श्रृंखला तोड़ने पर विवश होता है। बेंगा इसी आन्तरिक पीड़ा को अपनी पत्नी से व्यक्त करता है — "चतुरी की भाई । सारी जिनगी बेकार चली गयी ··· मेरे ही सबब से पेंगा की जिनगी खराब हुई ··· मेरी अपनी भी जिनगी खराब हुई ··· और चतुरिया को भी मैं ही ले डूबा ।"[2]

प्रत्येक गुलाम अपनी सन्तान में अच्छे संस्कार डालने के नाम पर जमींदार की स्वामी भक्ति से सेवा करने की शिक्षा देता है और निर्दोष बालक घुट्टी में मिले उस संस्कार का बाप-दादों से भी बढ़कर पालन करने में गर्व महसूसते हैं। बाप अपने बेटे को जीवन निर्देशक के रूप में अपने कदमों पर चलने के गुर पिलाता है। बेटा गुर ग्रहण करके अपने बाप की ही भाँति स्वयं एक जिम्मेदार बाप बनता है। इस तरह पुश्तैनी शोषण की यह नींव गहराती जाती है। कोई गुलाम इस व्यवस्था का विरोध करने का साहस नहीं रखता क्योंकि उसकी रगों में नमक हलाली का रक्त प्रवाहित होता रहता है, दूसरे सामन्ती बिजलियों का मुकाबला करने में छुट-पुट विरोध सक्षम भी नहीं हो पाता ।

---

1. डॉ० कमला गुप्ता - हिन्दी उपन्यासों में सामन्तवाद का चित्रण, पृ॰- 74.
2. भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ॰- 112.

§II§ लगान एवं विभिन्न करों की वसूली के रूप में

भूमिहीन किसान जमींदारों से लगान पर भूमि उधार लेकर यदि अच्छी फसल हो तो लगान चुकता करके अगले साल के लिए भी बन्दोवस्त करवा लेते हैं, परन्तु सूखे के प्रकोप या अकाल की स्थिति में किसान असहाय हो जाता है, वह एक तरफ ऋण के दलदल में डूबा होता है दूसरी तरफ महाजन व जमींदार दोनों उसके प्राणों के ग्राहक बन जाते हैं । जमीदार से फरियाद करने पर भी कोई असर नहीं होता । उन्हें तो हर हालत में लगान चाहिए। जो लगान नहीं दे सकता उसे मार पड़ती है, पशु छीन लिये जाते हैं, सामान लूट लिया जाता है, बच्चों व पत्नी को काम पर रख लिया जाता है, तिस पर गालियों की बौछार । जो किसान लगान चुका देते हैं उन्हें भी अगले वर्ष के लिए उसी कीमत पर भूमि बन्दोबस्त नहीं होता। आषाढ़ के महीने में भूमि बन्दोबस्त होता है। तब जमींदारों के नखरे देखने योग्य होते हैं। वे किसानों से भाव-ताव के लिए आदर-सम्मान पाते हैं, दम्भ से मुस्कुराते हैं। उपन्यास के ही एक अंश में भैरव जी ने इनकी कलुषता को मानो बहुत ही नजदीक से महसूसा हो — "सिर पर आषाढ़ आया देख किसान अन्धे हो जाते हैं, पागल हो जाते हैं । खेत न मिला तो क्या होगा ? सो जमींदार उसी मौके के इन्तजार में बैठे मुस्कुराते रहते हैं ।"[1]

§III§ महाजनी शोषण

जमींदारी व महाजनी शोषण परस्पर आबद्ध होते हैं। जमींदार जब दुगुना-तिगुना लगान थोपता है तो गाँव में कृषकों को तत्काल रूपये का प्रबन्ध करने वाला महाजन ही होता है जो चक्रवृद्धि ब्याज की दर के माध्यम

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ.-46.

से किसानों को पूर्णतया चूस लेते हैं ।रूपया नहीं दे सकने की स्थिति में उनसे गहने व सामान रखवा कर उसे उस ब्याज की दर से कम कीमत का साबित करके चक्रवृद्धि ब्याज से छुटकारा नहीं पाने देते । भोला-भाला किसान इन दांव-पेंचों को समझ ही नहीं सकता और जानता भी है तो इनके खिलाफ कुछ करने की उसमें ताकत भी नहीं है । "आग और आँसू" में किसान जमींदारों से भमि बन्दोवस्त करवाने के लिए अपने घर की जीर्ण-शीर्ण सामग्री को ही महाजन के मुनीम की भेंट चढ़ा देते हैं —"शम्भु का मुनीम वही खोले बैठा था । उसके सामने किसान और किसानिनो की भीड़ लगी थी । जिसके पास जो कुछ था, रख रहा था, बेच-बाच रहा था । ··· कोई चाँदी के छोटे-मोटे गहनों का मोल-तोल कर रहा था, कोई सरखत पर अंगूठे के निशान लगा रहा था ।"[1]

§ § सैनिकों की भर्ती के रूप में

युद्ध में सैनिकों की आवश्यकता पड़ने पर जिले का कलैक्टर अंग्रेजों के विश्वासपात्र सामन्तों के प्रभाव से वहाँ के नौजवानों को फौज में भर्ती करवाते थे । सैनिकों की आवश्यकता पड़ने पर ये सामन्त भूमिहीन किसानों, मजदूरों जिनके पास रोजी-रोटी का अन्य कोई साधन नहीं होता था, उनके लिए उस वर्ष भूमि बन्दोबस्त नहीं करते थे।अत: भुखमरी के शिकार होकर वे फौज में भर्ती होने को विवश हो जाते थे । "आग और आँसू" उपन्यास में दारोगा जमींदार के पास कलैक्टर की चिट्ठी लेकर आता है जिसमें जमींदार को "राय साहब" का खिताब दिलाने का प्रलोभन देकर उस जिले से एक हजार जवानों को फौज में भर्ती कराने की ईच्छा व्यक्त होती है । बड़े सरकार §जमींदार§

1· भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ·- 48.

महाजनों पर ऋण देने पर प्रतिबन्ध लगाकर अपने कारिन्दों को भूमि बन्दोबस्त को बन्द करने का आदेश देकर किसानों को हर तरफ से नाउम्मीद कर फौज में भर्ती होने हेतु चाल खेल रहे थे । इधर कानूनगो, पटवारी एवं दारोगा अपने-अपने स्वार्थों के वशीभूत हो नवयुवकों के फौजी जीवन की मस्ती के ख्वाब दिखाने हेतु सभाएं कर रहे थे । फौज में जवानों की भर्ती की संख्या में बढ़ोत्तरी होने से कलैक्टर को अपनी पदोन्नति का लालच है तो बड़े सरकार को "राय साहब" की उपाधि पाने का लोभ तो इधर कानूनगो, पटवारी एवं दारोगा पर पैसे का भूत सवार है। इसलिए गाँव वालों में कानूनगो, पटवारी एवं दारोगा की साजिशों को नंगा कर रहे रमेसर, चतुरी एवं महावीर को चालान के तहत जेल में कर दिया जाता है और निस्सहाय ग्रामीण युवकों को जबरदस्ती भर्ती हेतु पकड़-पकड़ कर ट्रक भरकर बाहर भेजा जा रहा है । उपन्यास में रोंगटे खडे कर देने वाला बड़ा ही मर्मान्तक वर्णन किया गया है – "पुलिस वाले चारों ओर से भेड़ों की तरह घेरे हुए जवानों को लाते थे, इन्हें कतार में खड़ा करते थे और नाम पता लिखकर ट्रक में भर देते थे । ट्रक बाग के बाहर आती तो उसके अन्दर से झांकती डरी हुई आँखे दिखायी पड़ती और काका, चाचा, भाई, भैया की करुण चीत्कार सुनायी पड़ती । कई बूढ़े-बुढ़िया ट्रक के पीछे नाम ले-लेकर चीखते हुए दौड़ पड़ते, लेकिन ट्रक उनकी आँखों में धूल झोंककर आगे निकल जाती ।"[1]

इस प्रकार भैरव प्रसाद ने "गंगा मैया" उपन्यास में किसान-जमींदार संघर्ष को उदयशील साम्यवादी चेतना के परिप्रेक्ष्य में अंकित कर "मटरू" नामक प्रगतिशील पात्र के माध्यम से जमींदारों के विषैले दाँतों को उखाड़ने हेतु एक जीवन्त किसानों का संगठन बनाकर गंगा की दीयर पर सैकड़ों झोपड़ियां

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ.- 115.

बनाकर अपने श्रम पर केवल अपना अधिकार स्थापित कर आर्थिक चेतना का परिचय दिया है तो "सती मैया का चौरा" में केवल किसान-जमींदार के सम्बन्धों की कहानी ही नहीं अपितु व्यापक फलक पर फैले पूँजीवाद में मालिकों और मजदूरों में भी संघर्ष दिखाकर वर्ग संघर्ष में आस्था मजबूत की है तो सरकारी संस्थानों में व्याप्त भ्रष्टाचार का उल्लेख करते हुए रचनाकार ने समाज के तमाम हालातों में सुधार होते टुकड़े-टुकड़े संघर्ष की नहीं बल्कि किसानों, मजदूरों के सत्ता पर अधिकार करने की आस्था रखी है । भैरव जी के अनुसार जनता को राहत पहुँचाने में अन्य कोई भी विकल्प कारगर साबित नहीं हो सकता । वहीं "आग और आँसू" उपन्यास में किसान-जमींदार के सम्बन्धों की बर्बरता तक ही उपन्यास को सीमित न करके प्रत्यक्ष रूप से रमेसर, चतुरी व महावीर द्वारा साम्यवादी व्यवस्था के व्याख्यान देते हुए चरित्रों की अवतारणा की गई है। ये तीनों प्रगतिशील पात्र गाँव वालों की समस्याओं को अपने स्तर पर हल करके उन्हें अपने विश्वास में लेकर संगठित होने का आह्वान करते हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर से भैरव जी किसी भी अत्याचार का सांगठनिक स्तर पर विरोध या दमन करने में विश्वास व्यक्त करते हैं। एक व्यक्ति या अलग-अलग बिखरे हुए व्यक्तियों की ताकत व्यवस्था की नादिर-शाही प्रवृत्ति को कुचलने में सक्षम होगी इसमें पर्याप्त संदेह है ।

****

अध्याय - सात

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में राजनैतिक चेतना

- राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन

अध्याय - सात

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में राजनैतिक चेतना

(क) "गंगा मैया" उपन्यास में राजनैतिक चेतना

साम्यवादी चेतना से प्रेरित होकर कृषक जीवन की तमाम जटिलताओं एवं संघर्षों का जीता-जागता खाका प्रस्तुत करने में भैरव जी नागार्जुन के समकक्ष हो रहे हैं । "गंगा मैया" में भैरव जी ने शोषण पर आधारित सामन्ती प्रथा के विनाश के जी भर कर गीत गाए हैं । वे दलित कृषकों में सामूहिकता की भावना पैदा कर वर्ग-वैषम्य का कारण शोषक वर्ग की थाह में खोजकर वर्ग-संघर्ष का निनाद करवा कर सर्वहारा की विजय में अपना उल्लास जाहिर करते हैं । इसीलिए "गंगा मैया" के "मटरू" से प्रेरित होकर दीयर का प्रत्येक किसान अधिकारों की प्राप्ति हेतु जमींदारों के विरुद्ध लोहा लेने को तैयार हो जाता है । "मटरू" के जेल प्रवास के समय पुलिस के आतंक एवं जमींदारों के अत्याचारों के समक्ष वे अपनी गहरी सांगठनिक चिन्ता के प्रति प्रतिबद्ध रहकर अपनी सोच की गहरी नींव का परिचय देते हैं ।

मटरू के समझाने पर गंगा की दीयर से जमींदारों की बिना अनुमति के झाऊँ व सरकण्डे अपने घर ले जाते हैं क्योंकि गंगा की भूमि पर वे किसी

व्यक्ति विशेष का अधिकार न मानकर वहाँ से उत्पन्न सामग्री को सार्वजनिक सम्पत्ति मानने लगते हैं परन्तु जमींदार सामन्ती नशे के वशीभूत हो इस घटना को अपने दम्भ पर करारा प्रहार मानते हुए कृषकों के चेतना स्रोत "मटरू" को घटना के मूल में मानकर अपने कारिन्दे को भेजकर मटरु को बुलाते हैं।अपने परिश्रम के अतिरिक्त अन्य किसी को भी कुछ नहीं समझने वाला मटरु कारिन्दे से अपनी मंशा स्पष्ट कर देता है — "कानून-कायदे की बात वे घर बैठे बघारा करें, मुझे कोई परवाह नहीं । मैं तो यही जानता हूँ कि यह धरती "गंगा मैया" की है । जो चाहे आए, मेहनत करे, कमाए खाए । जमींदारों ने इधर आँख उठायी तो मैं उनकी आँखें फोड़ दूँगा ।"[1]

मटरू के इस वक्तव्य से सामन्ती अहं सर्प के फन की भाँति फुफकार उठता है तथा अपने दंश से चेतनाहीन करने की योजना बनाने लगता है । मटरु को डाके के झूठे अपराध में तीन साल की कैद की सजा सुनाकर उदयशील संघर्ष को नेतृत्वहीन करके चूर-चूर करने का स्वप्न देखने वाले जमींदार नव-नेतृत्वकारी पूजन के नेतृत्व में गठित उस समूह की चेतना का बाल तक बांका नहीं कर सके । किसान-जमींदार संघर्ष में किसानों की जीत दिखाकर भैरव जी ने वर्ग चेतना में अपनी आस्था की नींव को गहराते हुए प्रतिबिम्बित किया है।इस सम्बन्ध में डॉ0 एन0 रवीन्द्रनाथ का मत है कि — "गंगा मैया में किसान-जमींदार संघर्ष में गंगा मैया की जीत है, किसानों की जीत है।यह जीत वस्तुत: भारतीय किसान वर्ग की जागृति का प्रेरक तत्त्व है ।"[2]

(अ) वर्ग चेतना की निरन्तर प्रज्जवलित लौ

गाँव के निपट गंवार किसान,जो अब तक बड़ी मासूमियत से जमींदारों द्वारा अपना शोषण करवा रहे थे, वे अब अपने वर्गीय हितों के प्रति जागरूक हो

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - गंगा मैया, पृ॰- 34.
2. डॉ0 रवीन्द्रनाथ - मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास, पृ॰- 190.

जाते हैं । वे इस तथ्य को जान जाते हैं कि जमींदारो शक्ति अपनी शोषक नीति पर तब तक आमादा रहेगी जब तक कृषक वर्गीय भावना से प्रेरित होकर इनका मुकाबला नहीं करेंगे । अपने नाजायज धन पर पल रहे सुरक्षा विभाग को अपने कब्जे में कर ये किसी व्यक्तिगत ईकाई को कुचलने में एक क्षण भी नहीं लगाएंगे । अत: वे अपने दुश्मन की खूनी रग को पहचानकर अपने हितों के प्रति जागरूक हो संघर्ष करते हैं । डॉ० प्रभास चन्द्र शर्मा का वक्तव्य दृष्टव्य है – "सही नेतृत्व के प्रति अगाध श्रद्धा, विश्वास और वर्ग चेतना के अविकसित स्वरूप का चित्रण गंगा मैया में इस प्रकार हो पाया है ।"[1]

(ब) वर्ग संघर्ष

जिस प्रकार बाबा नागार्जुन ने "बाबा बटेसरनाथ" में सर्वहारा वर्ग की जागृति, संगठन एवं संघर्ष के स्वर गूँजायमान किए है उसी प्रकार भैरव जी के "गंगा मैया" के किसान वर्ग संघर्ष से आप्लावित होकर जमींदारों के विरुद्ध हमला बोल देते हैं । "गंगा मैया" में वर्ग-वैषम्य काफी स्पष्ट है । एक तरफ जमींदार भूमि बन्दोबस्त से ही इतना धन हड़प लेते हैं कि उनकी आगामी पीढ़ी तक भी बिना हाथ-पैर हिलाये अपनी सन्तानों की ठाठ से परवरिश कर सकती है ; तो दूसरी तरफ किसान दिन रात परिश्रम करके भी भूखे पेट नंगे बदन, बेघरबार रहने को विवश है । गंगा की दीयर पर भी अपना व्यक्तिगत अधिकार बताकर जमींदार वर्ग संघर्ष की दिवारों को अधिक चौड़ा कर देते हैं । अपनी झोपडी में निश्चिंत होकर सोये मटरु को जमींदार के ईशारे पर पुलिस कांस्टेबल बांधकर डाके के अपराध में जेल भेज देते हैं और मटरु को अनुगामी किसानों को भी मौका पड़ने पर भयभीत करते हैं। ये तमाम घटनाएं वर्ग वैषम्य की खाई को अधिक गहरा कर देती हैं । और वर्ग वैषम्य जितना

---

1. डॉ० प्रभास चन्द्र शर्मा - प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास, पृ०-403.

अधिक स्पष्ट, गहरा व भीषण होगा, वर्ग संघर्ष की मात्रा उतनी ही तीव्र होगी, गहरी होगी । डॉ0 सम्पूर्णानन्द इसी सत्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं – "वर्गों का अस्तित्व बना रहा तो संघर्ष बना रहेगा । यदि सम्पन्न और असम्पन्न में आज जैसा भेद न रहे, वर्गों की आमदनियाँ एक दूसरे के पास आ जायें और साधारणत: सभी की आवश्यकताओं की भली भाँति पूर्ति हो जाये अर्थात सबसे कम और सबसे अधिक आय में आज की भाँति आकाश-पाताल का अन्तर न हो तो संघर्ष दब सकता है ।"[1]

निश्चित ही "गंगा मैया" के किसानों की स्थिति दबने की नहीं है । वहाँ कृषक वर्ग पर जालियाना अत्याचार वर्ग संघर्ष को आमन्त्रित करता है । एक वर्ग ठेठ रूप से उत्पादनकर्ता है दूसरा वर्ग ठेठ उपभोक्ता । दोनों के मध्य केवल शोषित-शोषक का रिश्ता ही सम्भव है।वहाँ वर्ग संघर्ष की गूँज को कोई नहीं दबा सकता । एमिल बर्न्स लिखते हैं – "वर्ग संघर्ष ऐसी उत्पादन व्यवस्था से पैदा होता है जो समाज को वर्गों में बाँट देती है जिनमें से एक वर्ग पैदावार करता है (गुलाम, अर्द्ध गुलाम, किसान, मजदूर) और दूसरा वर्ग उत्पादन के लिए बिना हाथ-पैर हिलाये ही पैदावार का उपभोग करता है (गुलामों के मालिक, सामन्ती भू-स्वामी, पूंजीवादी मिल मालिक) ।"[2]

उपन्यासकार नें वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष के माध्यम से शोषित, श्रमजीवी, संगठित वर्ग विजय में अपना विश्वास व्यक्त किया है।प्रकारांतर से रचनाकार ने सामूहिक खेती की सफलता के लिए संगठन की आवश्यकता पर बल दिया है । "गंगा मैया" के किसान सामन्ती शोषण की चक्की के पिसाव से मुक्त होने की प्रक्रिया में हैं । वे अपने श्रम से, अपने संगठन से, अपनी नयी चेतना से अपने को शोषित रखने वाली परिस्थितियों को कुचल कर एक ऐसे समाज की

---

1. डॉ0 सम्पूर्णानन्द - समाजवाद, पृ.-167.
2. एमिल बर्न्स - मार्क्सवाद क्या है, पृ.-42.

स्थापना करने की तैयारी कर रहे हैं जहाँ सर्वहारा अपने श्रम से अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अपने विकास में किसी व्यक्तिवादी संस्था का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकेंगे । रचनाकार ने पाठकों में वर्ग चेतना एवं वर्ग संघर्ष के माध्यम से मनचाहे संगठन की स्थापना का पाठकों में उत्साह संचारित किया है।आनन्द प्रकाश का मत है कि – "चूँकि उपन्यास का उद्देश्य एक ऐसे समय में (1952-1953) पाठक वर्ग के बीच उत्साह एवं प्रेरणा का संचार करना था जब सर्वहारा आन्दोलन पर शासक वर्ग द्वारा निरन्तर राजनीतिक एवं नग्न शारीरिक प्रहार किया जा रहा था ।"[1]

(ख) "सती मैया का चौरा" उपन्यास में राजनैतिक चेतना

(अ) राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन और भैरव प्रसाद गुप्त

1942 के आन्दोलन में साम्यवादियों ने कांग्रेस को सहयोग नहीं दिया इसीलिए उन्हें "देशद्रोही," "बयालीस के आन्दोलन का गद्दार" और "भारत छोड़ो" की पीठ में छूरा भोंकने वाला कहा जाता है परन्तु भैरव प्रसाद गुप्त 1942 के आन्दोलन में साम्यवादियों की नीतियों को सही मानते हुए उस आन्दोलन की प्रवृत्ति को ही उचित नहीं मानते । 22 जून सन् 1941 को रूस जर्मनी के आक्रमण का शिकार होने के कारण कम्युनिस्ट पार्टी जो युद्ध को साम्राज्यवादी मानती हुई उसके विरुद्ध आन्दोलनकारी रवैया अपनाए हुए थी, अब फासिज्म के विरुद्ध लड़ने वाले मित्र राष्ट्रों का समर्थन करते हुए युद्ध को जनक्रान्ति कहने लगी । 1934 में असंवैधानिक घोषित हुई कम्यूनिस्ट पार्टी 1942 में वैधानिक घोषित कर दी गयी । भारत छोड़ो आन्दोलन के तहत भयंकर

---

1. सं० विद्याधर शुक्ल – भैरव प्रसाद गुप्त : व्यक्ति और रचनाकार, पृ०-

मारकाट, विनाशलीला हुई । औरतें, बच्चे, बड़े-बूढ़े सभी बहुत सी संख्या में मारे गये । रेलवे स्टेशनों, डाकखानों, थानों पर आग लगा दी गयी । गाँधी जी तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के कारण जनता होशो-हवास खोकर हिंसा पर उतर आयी थी । साम्यवादी दल ने इस आन्दोलन को आन्दोलन ही न मानकर इसमें अपनी रुचि नहीं दिखायी । "सती मैया का चौरा" का पात्र "मन्ने" साम्यवादियों की इस नीति को देशद्रोह न मानता हुआ इसका समर्थन करता है । मन्ने यद्यपि 1942 से पहले कांग्रेसी था कांग्रेस की हैसियत से ही वह जेल जाता है परन्तु जेल प्रवास में साहित्य पढ़कर मार्क्सवाद में उसकी आस्था जम जाती है। अत: वह आन्दोलन का विरोध करता हुआ कहता है — "लाखों करोड़ों" लोग जिस क्रान्ति में कूद पड़े थे उस क्रान्ति को मुट्ठी भर कम्युनिस्टों ने कैसे विफल कर दिया ? क्या मुट्ठी भर कम्युनिस्टों की ताकत "लाखों-करोड़ों क्रान्तिकारियों" से बढ़-चढ़कर थी ··· झूठ बात है । न तो यह क्रान्ति थी । न इसके पीछे कोई क्रान्तिकारी संगठन था, न इसे सफल होना था । यह तो सिर्फ एक गुस्से का उबाल था ।"[1]

भैरव प्रसाद ने "सती मैया का चौरा" में साम्यवादियों की 1942 के आन्दोलन में भाग न लेने की नीति का समर्थन करते हुए लिखा है कि यदि यह आन्दोलन सफल भी हो जाता तो अँग्रेज अपनी फौजें लेकर चले जाते तो तुरन्त जापान के होने वाले हमले का भारत कैसे सामना कर पाता ? फिर भारत तो अहिंसावादी था और इस अहिंसा के चलते हम जापानियों के कब्जे में होते । युद्ध में विजयी मित्र राष्ट्रों की नीति क्या भारत को यूँ ही छोड़ देती । नहीं वे निश्चित ही भारत का बंटवारा करते । भारत आज भी गुलामी की जंजीरों को तोड़ने का प्रयास कर रहा होता । भैरव जी ने "मुन्नी" के माध्यम

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ॰- 522.

से गाँधीवाद में अपनी अनास्था व्यक्त करते हुए साम्यवादियों की नीतियों का समर्थन किया है ।

साम्यवादियों की नीति उस समय विदेशी सरकार का सहयोग देकर फासिस्ट आक्रमणकारियों से भारत की रक्षा करने की नीति थी । क्योंकि वह जानती थी कि युद्ध में मित्र राष्ट्र विजयी होंगे और निहत्था भारत फासिस्ट शक्तियों के सामने घुटने टेकने में विवश हो जाएगा, इसलिए वर्तमान सरकार का सहयोग भारत की रक्षा हेतु अत्यावश्यक है । साम्यवादियों की इस नीति को "गद्दार" की संज्ञा दी जाती है जबकि यह मिथ्या आरोप है । गांधीजी का उस समय मानना था कि युद्ध में धुरी राष्ट्र विजयी होंगे, जबकि जीत मित्र राष्ट्रों की हुई । "अयोध्यासिंह" ने बहुत सही-2 मूल्यांकन करते हुए कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा दिए गए ज्ञापन को उद्धृत करते हुए लिखा है — "हम इस युद्ध को जनयुद्ध समझते हैं। दुनिया की मुक्ति के लिए ऐसा युद्ध जिसमें भारतीय जनता को खुद अपने स्वार्थ के लिए खुद अपनी मुक्ति को प्राप्त करने के लिए हिस्सा लेना चाहिए ··· जैसे-जैसे फासिस्ट आक्रमण का खतरा अवश्यम्भावी होता जा रहा है राष्ट्रीय आन्दोलन का एक काफी बड़ा हिस्सा युद्ध के प्रति वही रुख अपना रहा है जिसका हमने समर्थन किया है ··· हम कांग्रेस के नेतृत्व से और देश के आम देशभक्त जनमत से सहमत हैं कि प्रभावपूर्ण राष्ट्रीय प्रतिरोध एक सच्ची राष्ट्रीय सरकार के मातहत ही सम्भव है, अन्यथा नहीं । हम उसके साथ वहाँ असहमत हैं जब वे कहते हैं कि राष्ट्र को वर्तमान युद्ध प्रयास के साथ सहयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि वर्तमान सरकार विदेशी है, राष्ट्रीय नहीं । हमारा ख्याल है कि ऐसे रुख का मतलब खुद अपना गला काट लेना है । ··· फासिस्ट आक्रमणकारी के काम को आसान बनाना है ।"[1]

---

1. अयोध्यासिंह - भारत का मुक्ति संग्राम, पृ.- 722-723.

निश्चित ही साम्यवादी भारत के साथ गद्दारी करना नहीं चाहते थे, बल्कि भारत को फासिस्ट शक्तियों के हाथ पड़ने देने से बचाव हेतु दूरदर्शी नीति अपनाए हुए थे जिसे तत्कालीन भारतीय जनमानस ने समझने में भूल की ।

(ब) राजनैतिक नेताओं के विद्रूप चरित्र

भैरव जी ने "सती मैया का चौरा" उपन्यास में सती मैया के चबूतरे को प्रमुख घटना बिन्दु मानकर कांग्रेस, मुस्लिम लीग व जनसंघ आदि विभिन्न राजनैतिक दल के नेताओं के भ्रष्ट चरित्र को स्पष्ट किया है।"सती मैया का चौरा" में सभी राजनैतिक दल के नेता अपने स्वार्थों की सिद्धि हेतु सती मैया के चबूतरे के नाम पर भोली, अशिक्षित, ग्रामीण जनता की धार्मिक भावनाओं को भड़काकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। चबूतरे के पास मुसलमान "रहमान" का घर है । रहमान कुछ जमीन खरीदकर अपने घर की चार दिवारी में बढ़ोत्तरी कर लेता है । बस यही घटना विवाद का कारण है । उपन्यास में जनसंघी कैलाश उस जमीन को सती मैया के चबूतरे का हिस्सा मानता है। अतः गाँव की हिन्दू जनता को मुसलमानों द्वारा चबूतरे पर प्रहार बताते हुए भोली पिछलग्गू जनता की धार्मिक भावनाओं को भड़काकर अपना राजनैतिक उल्लू सीधा करते हैं । अनपढ़ गंवार जनता इन नेताओं की भीतरी काली तस्वीर से वाकिफ न होने के कारण साम्प्रदायिक आवेश के क्षणों में मरने-मारने पर उतारु हो जाती है । उपन्यास के एक प्रसंग में साम्प्रदायिकता का विकराल रूप स्पष्ट देखा जा सकता है — "जयराम बोला - लेकिन एक बात तुम याद रखना कि सती मैया से बड़ी कोई गाँव में नहीं है । देवी-देवता से बैर बेसहकर किसी का भला नहीं होता।"[1]

शिक्षित कैलाश इंजीनियर होते हुए भी ग्रामीण जनता के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों पर वैज्ञानिक सोच की व्यापकता स्पष्ट न करते हुए जनता को अन्ध

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ॰- 662.

मान्यताओं को राजनैतिक स्वार्थ की पूर्ति अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करता है, तो दूसरी तरफ जुब्ली मिंया जो राष्ट्रीय आन्दोलन के समय से लीगी रहा है, कांग्रेस का भरपूर विरोध करता रहा है, वही शख्स गांधी जयंती के अवसर पर गाँव में बने गांधीजी के चबूतरे पर कांग्रेसियों से स्वार्थ साधने के लिए अपनी जिन्दगी के राजनैतिक इतिहास को बिसरा कर अवसरवादी चरित्र का परिचय देता है ।

स्वतन्त्रता के पश्चात कांग्रेसी नेता अपने पुराने आदर्शों का परित्याग कर अपने दलित स्वार्थों की क्षुद्र पूर्ति हेतु घिनौने खेल खेलते हैं । अपनी छवि को शुद्ध करने हेतु या उसे बरकरार रखने हेतु जनता के हितों के पेट में लात मारने से भी नहीं चूकते । विवेचित उपन्यास में सुचारु रूप से चल रहे स्कूल में आपा-धापी करके कांग्रेसी नेता स्कूल के शैक्षिक माहौल को भी विकृत कर छोड़ते हैं । प्रत्येक शिक्षार्थी राजनीति के विद्रूप के कारण अपने अध्ययन का नुक्सान स्वयं भुगतता है । वह स्कूल जिसका अपने सही समय में परीक्षा परिणाम 63 प्रतिशत रहा है आज राजनैतिक अड़ंगेबाजी के कारण 27 प्रतिशत मात्र ही रह जाता है ।

(स) साम्प्रदायिकता

भारत अपने प्राचीन समय से ही बहुजाति, बहुधर्म वाला देश रहा है । मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारतीय इतिहास में इन जातियों व धर्मों के संघर्षों का इतिहास नहीं मिलता । मुसलमान जाति की संस्कृति भारतीय आचार-विचार, रहन-सहन से काफी भिन्न थी । दूसरे मुसलमान कई वर्षों तक भारत के शासक रहे थे । मुसलमानों द्वारा जाति के आधार पर अपने लिए सीटों की मांग और हिन्दूओं द्वारा इस प्रस्ताव का विरोध तथा सरकार द्वारा इस हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का लाभ उठाना इन साम्प्रदायिक दंगों की मूल जड़ थी । हिन्दू-मुस्लिम दोनों का यह राजनैतिक संघर्ष धीरे-धीरे और

भी अधिक विकृतता की ओर गमन करते-करते साम्प्रदायिक रूप ग्रहण करने लगा । इस साम्प्रदायिक विद्वेष ने भारत-पाक विभाजन को अवश्यम्भावी बनाया । साम्प्रदायिक वैमनस्य ने कितने ही निरीह, मासूम, निरपराधों को मौत के घाट उतार दिया था, इतिहास गवाह है और वर्तमान के अखबार, पत्र-पत्रिकाएं आज भी इन साम्प्रदायिक विद्वेष के समाचारों से आद्योपान्त भरी रहती है । छुटपुट साम्प्रदायिक दंगे आज की राजनीति का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है । विभिन्न, गुर्जा राजनैतिक दलों के नेता अपने-अपने लोभ के वशीभूत हो जनता की अन्धी धार्मिक भावनाओं को भड़काकर साम्प्रदायिक आवेश के क्षण पैदा करते हैं ।

"सती मैया का चौरा" उपन्यास में मुसलमान रहमान द्वारा चबूतरे के समीप की जमीन खरीदकर उसे अपने आँगन में शामिल करने की छोटी सी घटना को आधार बनाकर उसे साम्प्रदायिक ज्वाला का रूप दे दिया जाता है । जनसंघी कैलाश द्वारा हिन्दूओं को भड़काये जाने पर विरोध में मुसलमान भी एकत्र होते हैं, मारकाट मचती है परन्तु उपन्यास में साम्यवादी चेतना सम्पन्न पात्र "मन्ने" इस घटना को अपनी सूझबेझ से सुलझाकर एक बारगी शान्त कर देता है । परन्तु उपन्यासकार का उद्देश्य इस घटना को तूल देकर कथा विस्तृत करने का नहीं है । भैरव जी तो घटना के माध्यम से राजनैतिक नेताओं की बखिया उधेड़ते हुए भोली, अशिक्षित निरीह जनता को गुमराह करने वाली उनकी दूषित नीति को स्पष्ट करना था । भैरव जी का मत है कि कोई भी गुर्जा राजनैतिक दल अपने स्वार्थों के चलते जनता का सही नेतृत्व करने की बजाय अपने क्षुद्र स्वार्थों की आपूर्ति हेतु अस्त्र के रूप में गलत इस्तेमाल करते हैं । भैरव प्रसाद ने इन सभी समस्याओं के निदान हेतु छुट-पुट विद्रोह, संघर्षशील चेतना ही नहीं अपितु वे व्यापक स्तर पर जन चेतना के उदय में विश्वास रखते हुए साम्यवादी व्यवस्था में इस मर्ज का निदान ढूँढते हैं "मन्ने" के ही शब्दों में –

"साम्प्रदायिकता का इलाज केवल वर्ग चेतना है । उपदेश नहीं, सुधार नहीं,

धर्मों का समन्वय नहीं ••• इस मर्ज का एक यही वाहिद इलाज है, वर्ग चेतना ••• वर्ग संघर्ष । ••• क्रान्ति । ••• किसान और मजदूरों का राज ।"[1]

§ग§ "आग और आँसू" उपन्यास में राजनैतिक चेतना

सर्वहारा बोध के तहत भैरव जी की लेखनी हर पीड़ित की कराह से संचालित होती है । हर विक्ष की विद्रोही चेतना से गति पाती है । शोषण की विकरालता को पाठकों के समक्ष सही-सही प्रस्तुत करने के लिए भैरव जी हरदम कुछ ऐसे चरित्रों का निर्माण अपनी रचनाओं में कर लेते हैं, जो शोषण पर आधारित गैर-मानवीय व्यवस्था को कुचलने का दम रखते हैं । "गंगा मैया" का मटरू एकबारगी व्यवस्था के ठेकेदार सामन्तों के मन में व्यवस्था पलटने की सम्भावना का भय पैदा कर देता है । असल में वर्तमान भारतीय परिवेश में "सर्वहारा बोध" किसी भी शोषित श्रमिक की राजनैतिक चेतना को अभिव्यक्ति करता है, उसको परिपुष्ट करता है । भैरव भी अपने लगभग प्रत्येक उपन्यास में निरीह, अपढ़, ठेठ गँवार जनता में एक चेतना का विस्फोट सा भड़काते हैं, वे उस जन समुदाय में चेतना का जागरण करके उसे सर्वहारा शक्ति बनाने का प्रयत्न करते हैं । उनके पात्र शीघ्र ही मानने लगते हैं कि उनके शोषण का कारण कोई आध्यात्मिक सत्ता नहीं अपितु व्यक्तिवादी चेतना पर आधारित वर्ग है और वह उसके विरुद्ध विद्रोह सा छेड़ देता है । वह यह मानने लगता है कि विद्रोह किसी व्यक्ति विशेष से न होकर उत्पादन व्यवस्था के स्वरूप से होना चाहिए । अतः जब तक "अर्थ" पर एक वर्ग का स्वामित्व रहेगा तब तक कुछ लोग शोषित होते रहेंगे और कुछ लोग उनको चूस-चूस कर अपनी परजीवी संस्कृति का निर्माण करते रहेंगे।इसलिए उनके पात्र विद्रोह की आवाज को बुलन्द और असरदार बनाने

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ॰- 665.

के लिए संगठनात्मक चेतना का आश्रय लेते हैं । क्योंकि इस मर्ज को जड़ से उखाड़ने हेतु उत्पादन व्यवस्था पर प्रहार ही अन्तिम विकल्प है; जमींदारों से अधिक भूमि काश्त पर लेकर उत्पादन करने से दो या चार परिवार ही अपनी आर्थिक स्थिति सबल कर सकते हैं । सर्वहारा की जिन्दगी को बेहतरीन करने के लिए मूल व्यवस्था का तख्ता उलटना आवश्यक है और इस परिवर्तन के लिए वर्ग चेतना की नींव को गहरा किया जाए यह प्राथमिक आवश्यकता है ।

(अ) वर्गीय चेतना

"आग और आँसू" उपन्यास में रमेसर चतुरी व महावीर आदि कुछ नौजवान इस सत्य से परिचित हो गये हैं कि अब वह समय आ गया है जब अपने अस्तित्व की सुरक्षा व प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से जीने के लिए राजनीति के प्रति सजग होना बेहद आवश्यक है। इसलिए वे जमींदारी शोषण को अनैतिक बताकर गाँव वालों को उनके विरुद्ध खड़े होने की चेतना का निर्माण करने के लिए सभाएँ करते हैं, भाषण देते हैं । मँहगू, जोखू आदि जैसे हजारों प्रत्यक्ष रूप से पीड़ित व्यक्तियों की दुखती रगों को सहलाकर सभी को अपनी ईमानदार नीति के पक्ष में कर लेते हैं । चूँकि ये लोग व्यक्तिगत जिन्दगी से कुछ उपर उठे हुए लोग हैं इनके लिए अपना दु:ख उतना ही महत्त्व रखता है जितना सभी का दु:ख । वस्तुगत सोच के कारण कोई भी व्यक्ति निस्संदेह प्रभावित होता है।यही कारण है कि रमेसर और चतुरी को अपना नेता मानकर सभी लोग सर्वसम्मति से उनके निर्णयों को स्वीकार जमींदारों के अत्याचारों के विरोध में एक हो जाते हैं ।

उपन्यास में मुख्य घटना के रूप में गाँव में सप्ताह में दो बार उस जमीन पर बाजार लगने की घटना है, जो जमीन सात-आठ जमींदारों के बीच उलझी होने के कारण परस्पर समझौते के अभाव में कलह का कारण बनती है ।

प्रत्येक जमींदार का कारिन्दा उस जमीन पर अपने मालिक का अधिकार जताता हुआ दुकानदारों से जबरदस्ती लाठियों के बल पर पैसा वसूल करते हैं । लगान न देने पर मार-पिटाई करते हैं । रमेसर, चतुरी व महावीर इस अन्याय के दमन के लिए बीच-बचाव करते हुए जहाँ भी धर-पकड़ होती है वहीं पहुँच जाते हैं। इन नवयुवकों की वर्गीय चेतना से आक्रान्त होकर दारोगा की सहायता से इन तीनों पर चालान करवाकर हवालात में बन्द करके जन-संघर्ष को ठप्प कर देते हैं ।

हम देखते हैं कि "आग और आँसू" में कृषक वर्गीय चेतना से चालित होकर भी ऐसा कुछ नहीं कर पाते जिससे जमींदारी व्यवस्था को अपने अस्तित्व का संकट मालूम हो । रमेसर, चतुरी व महावीर तीन तो क्या तीन सौ लोग भी जमींदारों की दावतों के अहसान के नीचे दबे दारोगा, कांस्टेबल की मन-मानी चाल का शिकार होकर जेल के सीखचों में बन्द, बाहर की आबो-हवा से दूर, जन संघर्षों के सन्नाटे की असहनीय चुप्पी को सहने पर मजबूर हो सकते हैं और अन्य कृषक जिनके समक्ष परिवार के लिए सुबह से शाम की रोटी-पानी का ही जुगाड़ नहीं हो पाता, वे वर्गीय चेतना सम्पन्न होकर भी कुछ कर नहीं पाते । "गंगा मैया" का मटरु जहाँ दीयर के जमींदारों को अपनी असीम शक्ति से हैरत और परेशानी में डालकर जमींदारी अस्तित्व के लिए खतरा खड़ा कर देता है, वहाँ "आग और आँसू" तक आते-आते भैरव जी सम्भवत: वर्ग संघर्ष की दुष्करताओं से अधिक अवगत होते हुए एवं किसान जीवन की सीमाओं को अधिक बारीकी से टटोलते हैं । इसीलिए "आग और आँसू" की वर्गीय चेतना क्रान्ति का वह मोड़ नहीं ले पाती जहाँ सर्वहारा अपने जनतांत्रिक अधिकारों के साथ जीवन जिए । वहाँ वर्गीय चेतना की लहर तुफान खाती तो अवश्य नज़र आती है परन्तु जमींदारी लम्बे विकराल हाथों के समक्ष कुछ विवशता के भाव भी ग्रहण कर लेती है ।

(ब) कांग्रेस पार्टी का विरोध

भैरव प्रसाद के "आग और आँसू" के प्रगतिशील पात्र समझौतावादी नहीं हैं, वे अपनी स्थिति से असन्तुष्ट होकर द्वन्द्वग्रस्त हैं प्रश्निल है, ठहराव को तोड़ने वाले हैं । वे संघर्ष की कष्टानुभूतियों से आहत होकर कांग्रेस पार्टी का आश्रय नहीं लेते । "आग और आँसू" उपन्यास का "चतुरी" कम्युनिस्ट होने से पहले कांग्रेसी शिवप्रसाद सिंह का चेला होता है । शिवप्रसाद उसे धन दौलत, पद देने का लालच देकर अपने पीछे लगाये रखते हैं । चतुरी तन-मन से उनकी सेवा करता है।धीरे-धीरे शिवप्रसाद डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर बन जाते हैं। एम०एल०ए० बनकर अपने घर को दिन दुगुना रात चौगुना भर लेते हैं परन्तु चतुरी फटे हाल चेला ही बना रह जाता है और कांग्रेसी नेताओं के स्वार्थी चरित्र से अपना विश्वास खो देता है और अन्त में जमींदार, महाजनों से प्रत्यक्ष लड़ने वाले चमार महावीर के साथ हो कम्युनिस्ट बन जाता है ।

कांग्रेस को पूँजीपतियों की संस्था मानते हुए यशपाल, अमृतराय, नागार्जुन की भाँति भैरव जी ने भी कांग्रेस की कार्यनीतियों की आलोचना एवं साम्यवादी व्यवस्था के समर्थन में अपने स्वर तीव्र किए हैं । स्वाधीनता के उपरान्त भी भारतीय जनता अपने शोषण में अंग्रेजी राज्य की मनमानी से किसी भी स्तर पर भिन्नता महसूस नहीं कर रही । अपना घर भरने वाले कांग्रेसी चरित्र जनता से वायदे करके बहलाने के यथासम्भव प्रयत्न करते देखे जा सकते हैं । उपन्यास में शिवप्रसाद के स्वार्थी चरित्र से मूल्यांकन किया जा सकता है । चतुरी को झूठे झांसे देते हुए कहते हैं – "जब कांग्रेस का राज आएगा, तो उसे भी इन कुरबानियों का फल मिलेगा । चाहे वह जिस पद पर पहुँच जाए, वह उसे कभी नहीं छोड़ेंगे ।"[1] परन्तु एम०एल०ए० बनने पर वही शिवप्रसाद

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ०-

गिरगिट की तरह रंग बदलते नज़र आते हैं ।

इस प्रकार भैरव जी ने "गंगा मैया" उपन्यास में ग्रामीण किसानों में अपने वर्गीय हितों के प्रति सजग करके प्रतिक्रियावादी ताकतों के खिलाफ जुझारू संगठन बनाकर लड़ाकू क्षमता का विकास करके अपनी राजनैतिक चेतना का परिचय दिया है, तो "सती मैया का चौरा" में जनसंघी, लीगी एवं कांग्रेसी नेताओं के क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु जनहितों पर किए गऐ कुठाराघातों का वर्णन करके साम्प्रदायिकता के खिलाफ साम्यवादी पात्र मन्ने को सीधे रणक्षेत्र में उतार कर अपनी राजनैतिक सजगता को स्पष्ट किया है । वहीं "आग और आँसू" उपन्यास में रमेसर, चतुरी जैसे प्रगतिशील पात्रों के माध्यम से वर्गीय चेतना के फैलाव में आने वाली बाधाओं का वर्णन करके अपनी अधिक अनुभवी एवं इमानदार अहसासों का जीवन्त चित्रण किया है ।"आग और आँसू" तक आते-आते "गंगा मैया" के निकट भविष्य में क्रान्ति की सम्भाव्यता में आस्था रखने वाले भैरवप्रसाद में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है जो उनके अधिक गहरे व लम्बे समय के राजनैतिक अनुभवों का सशक्त प्रमाण है ।

****

अध्याय - आठ

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना और मानववाद

(अ) धार्मिक विश्वास, अन्ध विश्वास

(ब) सांस्कृतिक लोकवादी रूप और मानववाद

अध्याय - आठ

भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना एवं मानववाद

(क) "गंगा मैया" उपन्यास में सांस्कृतिक चेतना एवं मानववाद

मनुष्य के मनुष्य होने का प्रमाण उसकी संस्कृति में निहित है।मनुष्य को पशु से अलगाने वाला मुख्य तत्व भी उसकी संस्कृति ही है । अपनी मानसिक क्षमता के कारण मनुष्य संस्कृति का विकास कर पाता है जो पशु के लिए नितान्त असम्भव है । "हॉरालाम्बोस" ने बिना संस्कृति के मानव समाज के निर्माण की सम्भावना पर ही प्रश्नचिन्ह लगाया है । मनुष्य चूँकि धारणाएँ बना सकता है, विचार कर सकता है, योजनाएं बनाता है, अपनी उन्नति एवं विकास के लिए चिन्तन के नये आयामों को खोलता है, तर्क-वितर्क करता है, वैचारिक एवं वैज्ञानिक क्षेत्र में नयी सम्भावनाओं पर प्रयोग करता है, प्रत्येक कार्य के पीछे क्यों व क्या के प्रश्नों से हरदम उद्वेलित रहता है और भाषा के आविष्कार से अपना सम्प्रेषण स्थापित करता है,यही वे समस्त तत्व हैं जो

संस्कृति के निर्माण में आधार बीज का कार्य करते हैं । भौतिक क्षेत्र में अनेक वस्तुओं की निर्मिति एवं गैरभौतिक क्षेत्र में अनेक आशाएँ, विश्वास, आस्थाएँ, भावनाएँ एवं व्यवहार के तरीके हमारी संस्कृति की अभिव्यक्ति करते हैं । ध्यान देने योग्य बात यह है कि युगानुसार सांस्कृतिक मान्यताओं में भी स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है । स्थायी रूप की कल्पना नहीं की जा सकती । संस्कृति का स्थायी रूप स्वत: ही रूढ़ियों को अंगीकार कर लेता है, जिसे प्रबुद्धचेता कभी भी स्वीकार नहीं कर पाता ।

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना और नवीन शिक्षा तथा वैज्ञानिक आविष्कारों ने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति से वर्तमान भारतीय संस्कृति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है । एक समय था जब भारतीय संस्कृति की अपनी कुछ निश्चित सीमाएँ थी । संस्कृति का विवेचन करते समय नारी के प्रति आदर, अतिथि सेवा, आध्यात्मिकता, प्रकृति के प्रति प्रेम, ईश्वर का चिन्तन मनन आदि आदर्श बिन्दु माने जाते थे । सच्चा भारतीय श्रद्धालु होकर ईश्वरोपासना करता हुआ मंदिर की घंटी की टन-टन में अपने जीवन के वर्तमान का आल्हाद और भविष्य की स्वर्णिमता के स्वप्न देखा करता था । परन्तु धीरे-धीरे ईसाई मिशनरियों द्वारा भारतीय धर्म की रूढ़ मान्यताओं, भारतीय जीवन पद्धति की संकीर्णताओं पर प्रहार करके युग की संवेदनानुसार नवीन शिक्षा का प्रचार किया । समाज सुधारकों और ईसाई मिशनरियों द्वारा अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण भारतीयों के कुण्ठित, बन्द, जर्जर दिमाग के कपाट खुले तथा अपनी जातियों, उपजातियों, अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों की कूप मण्डूकता में दिग्भ्रमित मानसिकता को छोड़ ईसाई धर्म की चार कदम आगे बढ़ी हुई मान्यताओं को मानने के लिए तैयार हुए । डॉ० रमेश तिवारी इसी सत्य की पुष्टि में लिखते हैं — "वस्तुत: ईसाई धर्म के प्रचार हो जाने के कारण हिन्दुओं में भी अपनी परम्परित रूढ़ मान्यताओं के प्रति नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ और छुआछूत, खानपान तथा जाति-पाँति के कठोर बन्धन

शिथिल पड़ने लगे । अंग्रेजों ने इन कुप्रथाओं को रोकने का भी प्रयत्न किया और साथ ही नवीन विचारों से परिचित प्रबुद्ध चेतना सम्पन्न भारतीय विचारकों का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ ।"[1]

अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारतीयों में समानता व राष्ट्रीयता की भावना का उन्मेष होने लगा । संस्कृत परायण भारतीय मनीषा विज्ञान के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने लगी । भारतीय नारी जो अब तक पिता, पति एवं पुत्र के अधीन एक वस्तु समझी जाती थी, विधवा होने पर पति के साथ जलकर मरने को उसका आदर्श माना जाता था, घर गृहस्थी के कार्यों का सुसम्पादन ही जिसकी श्रेष्ठता की कसौटी थी, पति की मान्य-अमान्य सभी बातों को शिरोधार्य करके अपने बच्चों की परवरिश करते हुए तमाम बड़े-बूढ़ों के निर्देशन में जिसके मन-मस्तिष्क का संचालन सम्भव था, नारी केवल बच्चे पैदा करने की यन्त्र मात्र रह गयी थी उस नारी के प्रति अंग्रेजी शिक्षा ने समानता के भाव पैदा किए । नारी अपनी शिक्षा के दौर में पर्दा प्रथा, बाल-विवाह जैसी कुप्रथाओं से दूर जा छिटकी वहाँ अपनी इच्छाओं, विचारों को प्राथमिकता देने का महत्व भी समझने लगी । वर्ण व्यवस्था के चलते शूद्र अछूत समझे जाते थे । भंगी, चमार मन्दिरों में प्रविष्ट नहीं हो सकते थे । विवाह का आधार जहाँ लड़के और लड़की की परिपक्व शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए नहीं बल्कि जाति, बिरादरी की साम्यता के आधार पर किया जाता था । अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत के इस समूचे सामाजिक जर्जर ढांचे में प्रश्नचिन्ह उभरे । रेल, डाक, तार एवं नये-नये आविष्कारों ने एक देश को दूसरे देश के करीब लाकर भारतीयों को अपनी संकीर्णताओं से उबरकर व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया ।

---

1. डॉ0 रमेश तिवारी - हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ.-242.

अब शिक्षित वर्ग का जीवन अपनी पुरातन सांस्कृतिक मान्यताओं के भीतर घुटता हुआ नवीन संस्कृति अपनाने का आग्रही होने लगा। यद्यपि नवीन संस्कृति के नाम पर तत्कालीन शिक्षित समुदाय ने पाश्चात्य संस्कृति का ही अनुसरण किया फिर भी अंग्रेजी शिक्षा एवं पाश्चात्य संस्कृति अपनी कुछ बुराइयों के साथ जन-जागरण फैलाने में एक हद तक कामयाब हुई । महत्त्वपूर्ण तथ्य ये है कि अब तक भारत में उच्च व निम्न दो वर्ग थे । उभरते हुए मध्य वर्ग ने जो, निम्न वर्ग आर्थिक दशा में कुछ बेहतर था, अपनी रोटी-पानी एवं आवास की समस्याओं से उबरा हुआ होने के कारण शिक्षा से अपने दिमागी कपाटों को खोलकर व्यापक मुद्दों पर विचार करने लगा। इस शिक्षित मध्यवर्ग ने सांस्कृतिक चेतना के नवीन आयाम स्थापित करने में एक सीमा तक सफलता प्राप्त थी । अब अपने सामाजिक सम्बन्धों, व्यवहारों, मान्यताओं व आदर्शों की पृष्ठभूमि तथा उसकी सामयिक अर्थवत्ता को खोजबीन के प्रयास भारतीय सांस्कृतिक चेतना के विषय बने । सामयिक मानवीय सरोकारों, पारस्परिक व्यवहारों व मान्यताओं की जड़ों के कारण व बदलती हुई परिस्थितियों में उसका रूढ़ रूप व परिवर्तन योग्य स्वरूप उसकी सोच का केन्द्र बना ।

वैज्ञानिक युग में ईश्वर के अस्तित्व पर भी प्रश्नचिन्ह लगने लगा । नारी के प्रति आदर एवं श्रद्धा का स्थान समानता ने ले लिया । वैज्ञानिक आविष्कारों से एक देश की दूसरे देश से दूरी सिकुड़ने के कारण पारस्परिक प्रभाववश विश्वबन्धुत्व की भावना विकसित हुई । अतिथि सेवा, कर्तव्यपरायणता त्याग, बलिदान एवं समर्पण आदि पारम्परिक सांस्कृतिक मूल्यों को रूढ़ रूप से च्युत करके समय व सम्बन्धों की सापेक्षता में देखा जाने लगा । वर्तमान उद्योगीकृत समाज की आर्थिक व सामाजिक तथा इन पर आधारित सांस्कृतिक मान्यताओं में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए इसी सांस्कृतिक चेतना को साहित्य को समाज सापेक्ष मानने वाले रचनाकारों ने अपनी कृतियों में अभिव्यक्त किया है ।

(अ) संस्कृति का बाह्य स्वरूप

संस्कृति के बाह्य स्वरूप के अन्तर्गत समाज में जी रहे मनुष्यों के खान-पान, आचरण-व्यवहार, रहन-सहन एवं जीवन जीने के तरीके को ले सकते हैं। संस्कृति के इस बाह्य स्वरूप को विस्तार देना भैरव प्रसाद के उपन्यासों का मंतव्य नहीं रहा बल्कि वे इस माध्यम से मनुष्य जाति की नैतिक मान्यताओं, आस्थाओं एवं विश्वासों को मुखरित करके संस्कृति की आन्तरिक संरचना को अधिक स्पष्ट करते हैं।फिर भी कहीं-कहीं उपन्यासों में भारतीय ग्राम्य संस्कृति का जीवन्त चित्रण करके वे उस सामाजिक परिवेश को बहुत ईमानदारी से व्यक्त करते हैं। "गंगा मैया" उपन्यास में अतिथि सेवा, गुरु के प्रति आदर सत्कार भावना एवं खेल-कूद के प्रति ग्राम्यजनों के उल्लास के माध्यम से संस्कृति का स्वरूप अंकित हुआ है। "मटरू" जेल से छूटने पर गोपी के घर जाता है तो गोपी की मां गुड़ के शर्बत व चने के माध्यम से आतिथ्य सत्कार की भावना को व्यक्त करती है वहीं ग्रामीणजन अपने मनोरंजन हेतु वैज्ञानिक सुविधाओं के अभाववश कुश्ती, लोकनृत्यों, सामूहिक गीतों इत्यादि के जरिये उल्लास प्रदर्शित करते हैं। "गंगा मैया" में गोपी व मानिग दोनों भाइयों को कुशल कुश्तीबाज के रूप में प्रदर्शित कर दो दलों के मध्य प्रतियोगिता से ग्राम्यजनों के उत्साह एवं हर्षोल्लास को प्रकट करते हुए गोपी का अखाड़े में उतरते ही चुटकी भर मिट्टी को माथे से छूकर गुरू स्मरण करने से ग्राम्य भारतीय संस्कृति में गुरू के प्रति निष्ठा की भावना स्पष्ट होती है।

(ब) सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन

"गंगा मैया" की विधवा भाभी परम्पराओं को ढो रही विधवा के नैतिक मापदण्डों के कटघरे में फिट नहीं हो पाती।वह अपने मृत पति की स्मृति में आँसू बहाकर अपने शेष जीवन को नष्ट करने की अवैज्ञानिक मान-सिकता के पंक से निकलकर घटनाओं की दुर्घटनाओं को सहज मानते उनके साथ

अपने मानसिक सन्तुलन को कायम रखते हुए शेष जीवन को स्वस्थ दृष्टिकोण से जीने के तहत परिवर्तित मूल्यों का आश्रय ग्रहण करती हुई पारिवारिक विद्रोह एवं लोकापवाद के बावजूद भी देवर से विवाह करवा कर पुन: उसी घर में रहकर अपने दबंग एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय देती है तो गोपी का रिश्ता तय करने के लिए भाभी का भाई बनकर आये मटरू के विरुद्ध जब बिरादरी वाले एकमत होकर विरोध करते हैं तो न केवल गोपी इन पारस्परिक रिश्ते-नातों के स्थाईत्व पर प्रहार करता है बल्कि इन्हीं संस्कारों को ताउम्र ढोने वाली गोपी की माँ भी बिरादरीवाद का बहिष्कार करके परिवर्तित चेतना का परिचय देती है ।

(स) "गंगा मैया" उपन्यास में मानववादी चिन्तन

मनुष्य के पारलौकिक जीवन, कल्पित संसार, देहावसान के पश्चात किसी अनूठे जगत की कल्पना का तिरस्कार करते हुए पार्थिव जीवन को सर्वेसर्वा मानने की अवधारणा मानववादी अवधारणा है । मनुष्य के अतिरिक्त कोई दूसरा श्रेष्ठ सत्य नहीं है, मनुष्य की श्रेष्ठता का मापदण्ड है।धर्म मनुष्य को जागरणावस्था से सुप्तावस्था में ले जाकर उसका मानसिक एवं आर्थिक दोहन करता है जहाँ व्यक्ति तर्क-वितर्क, विचार को महत्व न देकर एक अन्धी आस्था के तहत अपने जीवन को हाँकता है।धर्म प्रयाण जनता मानव की श्रेष्ठता को भूल कर धर्म, जाति व सम्प्रदाय श्रेष्ठ मान लेती है । अत: मानववाद धर्म, सम्प्रदाय जाति के सीमा बन्धनों को तोड़कर मनुष्य को मनुष्य के रूप में ही देखना चाहता है।मानववाद के अनुसार मनुष्य का उद्देश्य प्राप्य जिन्दगी को सम्पन्न बनाना व उसको आर्थिक, सांस्कृतिक, भौतिक एवं नैतिक स्तरों पर उत्थान करना है । हिन्दी साहित्य कोश में मानववाद की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है – "पारलौकिक मूल्यों के स्थान पर इहलौकिक लक्ष्यों को

प्रमुखता देने वाली इस विचारधारा का ही नाम मानववाद है ।"[1]

निश्चित ही मानववाद से तात्पर्य ऐसे वाद से है जो मनुष्य से सम्बन्धित हो, मानवीय हितों से चालित हो, मानव ही जिसका आदि हो और मानव ही अन्त । "गंगा मैया" उपन्यास में प्रमुख रूप से सामूहिक कृषि के दर्शन से परिपूरित किसान-जमींदार संघर्ष के माध्यम से वर्गीय चेतना सम्पन्न कृषकों की सांगठनिक एकता से विजय प्राप्त करके कृषि पर जमींदारों के वैयक्तिक अधिकारों की बपौती के खिलाफ छेड़े गए "मिशन" के प्रति जुझारू कृषकों की विजय से प्रत्येक व्यक्ति को जीवन जीने के अधिकारों की प्राप्ति से रचनाकार का मानव जीवन में आस्था का दर्शन स्पष्ट होता है तो दूसरी तरफ एक सामाजिक समस्या (विधवा पुनर्विवाह) का क्रान्तिकारी ढंग से समाधान करके सामन्ती रूढ़ियों को ध्वस्त कर मानववादी दर्शन से आप्लावित जीवन की सुरभी से सुगन्धित, सौरभित किया है । उपन्यास में "मटरू" तो मानववादी चिन्तन से पला-बढ़ा पात्र है ही, एक अन्य श्रमिक पात्र "बिलरा" जो गोपी के घर पशुओं की देखभाल करता है वह अपने पाँच-सात वाक्यों से ही सामंती व्यवस्था के नंगे विभत्स चेहरे को मुखौटाहीन करके श्रमशील संघर्षशील जनमानस में परजीवी सामन्ती संस्कारों के प्रतिरोध में मानववादी दर्शन को परिपुष्ट करता है । विधवा भाभी की मानसिक यन्त्रणा को "बिलरा" बहुत गहराई से महसूसता है।परिवार एवं बिरादरी वालों के कट्टर नियमों से असन्तुष्ट होकर "बिलरा" बिरादरीवाद के विरोध में बोलता है । वह सामन्ती संस्कृति की घुटन को महसूसते हुए श्रमिक जीवन की स्वतंत्र संस्कृति को श्रेष्ठ मानता हुआ मानव को "जीने के लिए" अधिकार प्रदान करने वाली विचारधारा को ही सही मानता हुआ कहता है — "यह कैसा रिवाज है, मालकिन आपकी बिरादरी का ? इस मामले में तो हमारी ही बिरादरी अच्छी, जो कोई बेवा इस तरह अपनी जिन्दगी खराब करने को मजबूर नहीं होती ।"[2] विवाह के लिए

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, पृ॰-
2. भैरव प्रसाद गुप्त - गंगा मैया, पृ॰- 46.

गोपी द्वारा बिरादरी बहिष्कार करने पर बिरादरीवाद के ठेकेदारों के दम्भ पर हुए प्रहार से बिलरा सर्वाधिक प्रसन्नता व्यक्त करके "जीओ और जीने दो" के सिद्धान्त में प्रकारान्तर से अपनी आस्था व्यक्त कर देता है, जो उसे मानव-वाद के निकट ले जाती है ।

(ख) "सती मैया का चौरा" उपन्यास में सांस्कृतिक चेतना एवं मानववाद

योरोप की औद्योगिक क्रान्ति से व्युत्पन्न वहाँ की परिवर्तित राजनैतिक एवं सामाजिक स्थितियाँ भारत में राष्ट्रीय जागरण की दुन्दुभी बजाने में एक हद तक सफल रही । धार्मिक मान्यताओं के टूटने से विज्ञान में विश्वास बढ़ा। पूँजीपति वर्ग के उभरने से मजदूरवर्ग एवं पूँजीपति वर्ग के पारस्परिक विरोधी हितों से एक ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता महसूस होने लगी जिसमें मनुष्य-मनुष्य की समानता का भाव प्रबल था । अंग्रेजी साहित्य में शैक्सपीयर, मिल्टन, बायरन स्कॉट आदि की रचनाओं में देशप्रेम के भाव ने भारतीयों में एकता एवं सुधार की भावना में बढ़ोत्तरी की । इन सब परिस्थितियों एवं प्रभावों के कारण भारतीय जनमानस में वैचारिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ । एक नवीन संस्कृति की चेतना उदय होने लगी जो प्राचीन संस्कृति की जर्जरता, मूढ़ता एवं निरर्थकता पर प्रहार करते हुए स्वस्थ मूल्यों की स्थापना की आकांक्षी थी ।

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारतीय जीवन का संचालन धर्म द्वारा होता था । परम्परागत विश्वास, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज के प्रति अन्ध आस्था विद्यमान थी । वैज्ञानिक चिन्तन के स्पष्ट अभाव के कारण कोई भी क्रान्तिकारी विचार जनमानस को आन्दोलित करने में सक्षम नहीं हो रहा था । भारतीय वैचारिक पृष्ठभूमि की सीमाओं का आंकलन करते हुए रामधारीसिंह "दिनकर" लिखते हैं — "व्याकरण साहित्य दर्शन और ज्योतिष के सिवाय यदि

कोई पाठ्यक्रम था तो वह अत्यन्त साधारण गणित का था ।"[1] अंग्रेजों के आगमन के पश्चात अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसारवश भारतीय अपनी आध्यात्मिक संकीर्णताओं को प्रश्नवाचक दृष्टि से देखने लगे । अब आध्यात्म का स्थान भौतिकवाद लेने लगा । भैरव प्रसाद गुप्त का "सती मैया का चौरा" कदापि राजनैतिक चेतना सम्पन्न उपन्यास है, फिर भी प्रसंगवश सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति भी उपन्यास के विस्तृत कलेवर में स्वत: ही स्पष्ट हो गयी है ।

(अ) संस्कृति का बाह्य स्वरूप

भारतीय ग्रामीण संस्कृति का जिक्र आते ही एक तत्त्व के रूप में अन्ध विश्वास स्वत: ही परिगणित कर लिये जाते हैं। असल में भारतीय ग्राम्य जीवन अन्धविश्वासों की जकड़न के साथ ही अपनी सम्पन्नता से रूपायित होता है । "सती मैया का चौरा" में गाँव की हिन्दू स्त्रियाँ सती माता के चबूतरे को वर्ष में एक बार पूजने के लिए एकत्र होती हैं । आध्यात्मिक अन्ध-विश्वासों से चालित होकर नव-विवाहित दूल्हा और दुल्हन को आशीर्वाद दिलवाने हेतु सर्व प्रथम सती माता के चबूतरे पर लाया जाता है। ये अन्ध-विश्वास इतनी गहरी जड़ें जमाए हुए हैं कि मुसलमानों द्वारा चबूतरा फोड़ने पर हिन्दू मरने मिटने को तैयार हो जाते हैं ।

एक तरफ अन्धविश्वास दूसरी तरफ कृषि पर आधारित भारतीय ग्राम्य अर्थव्यवस्था में संयुक्त परिवार में स्त्रियों के मध्य पारस्परिक मनमुटाव एक गहरी सच्चाई है । पूँजीवाद के विकास के कारण नवयुवक शहरों में मजदूरी या सरकारी नौकरी हेतु जाकर एकल परिवार बसा लेते हैं, परन्तु भारतीय ग्राम्य जीवन आज की ननद-भौजाई, देवरानी-जेठानी एवं सास-बहु

---

1. रामधारीसिंह "दिनकर" - संस्कृति के चार अध्याय, पृ.- 40 8

के बीच मनमुटाव एवं कलह की कहानी है । "सती मैया का चौरा" उपन्यास में "मन्ने"की पत्नी "मल्शार" व मन्ने की बहनों के मध्य खान-पान या घरेलू काम-काज को लेकर हुआ मनमुटाव एक परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को ही नहीं वरन पूरे भारतीय ग्राम्य सांस्कृतिक ढांचे को मुखरित करता है ।

(ब) आध्यात्म के स्थान पर भौतिकवादी दृष्टिकोण

भारत कृषि प्रधान देश होने के कारण वैज्ञानिक सुविधाओं के अभाव-वश प्राकृतिक विपदाओं के समक्ष हार मानकर किसी अज्ञात चालित सत्ता के प्रति विश्वास का दृष्टिकोण रखता था परन्तु विज्ञान ने जैसे-2 मनुष्य को अपनी उपलब्धियों का प्रत्यक्ष कर्ता व भोक्ता बना दिया तो प्रबुद्ध एवं चिन्तनशील मनुष्यों के अन्ध विश्वास द्वन्द्वात्मक संघर्ष के पश्चात प्रत्यक्ष विज्ञान पर विश्वास करने लगे । अब व्यक्ति के समक्ष समाज, राज्य की समस्याएं प्रमुख थीं, धर्म की चर्चा गौण । एक समय था जब व्यक्ति मनुष्य, समाज, राज्य, देश से पलायन करके पारलौकिक जीवन व धर्म सम्बन्धी चिन्तन में अपनी उर्जा नष्ट करता हुआ अपनी मूढ़तावश पुरोहितवाद को जन्म दे बैठा । इन पुरोहितों के दुराचार छद्म नैतिकता की आड़ में छुपे हुए थे परन्तु जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण ने जब ईश्वर व धर्म में अनास्था उत्पन्न की तो पुरोहित वर्ग पाखण्ड और दुराचारणों को कोई भी आड़ छुपा नहीं सकी । साहित्यकारों ने अपने साहित्य के माध्यम से इस पण्डे-पुरोहितवाद की स्वार्थी छली व धूर्ततापूर्ण नीति से यवनिका उठाते हुए चिन्तनशील मानस के मन में इनके स्वार्थी रवैये के प्रति अधिक प्रश्न करने पर मजबूर किया । भैरव जी के लगभग सभी उपन्यासों में धर्म से व्युत्पन्न विकृतियों से जनमानस पर पड़ते बुरे प्रभाव को स्पष्ट किया है ।

"सती मैया का चौरा" में पाठक अनुभव करता है कि कुछ राजनैतिक षड्यन्त्रकारी जनता की सुप्त धार्मिक भावनाओं को भड़काकर अपने मंतव्य की सिद्धि करते हैं सती मैया के चबूतरे की रक्षा के नाम पर हिन्दुओं को धार्मिक उबाल देकर एकत्र किया जाता है और लड़ाई-झगड़ा मारपीट में बदल जाता है, जन-हानि होती है ; परन्तु इन नेताओं के स्वार्थों की पूर्ति होनी चाहिए । धर्म मानव समाज को इतना दास्ण किए दे रहा है कि इसका नशा मानव को मानव नहीं रहने देता । चबूतरे की रक्षार्थ हिन्दु जनता धर्म प्रेरित होकर मुसलमानों के विरुद्ध जान की बाजी लगा देती है । मार्क्स ने धर्म को "अफीम" सही ही कहा है।यह तथ्य हम धर्म के नशे में उबल रही जनता के आक्रोश में स्पष्ट ही देख सकते हैं । भैरव जी उपन्यास में स्पष्ट करते हैं कि निरीह, भोली जनता को धर्म के नाम पर स्वार्थी राजनीति से चालित कुछ गुण्डे अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करके अपनी काली करतूतों के सिलसिले का व्यापक जाल बिछाते हैं । शिक्षित जनसंघी कैलाश अपने संकीर्ण हितों की पूर्ति हेतु हिन्दु जनता को एकत्र कर भड़काता है —"सती मैया का चबूतरा तोड़ना तो अधरम होगा । इसके लिए कौन हिन्दु तैयार होकर नरक भोगेगा ?"[1]

(स) व्यष्टि से समष्टि की ओर

व्यक्ति की स्वतन्त्रता में विश्वास करने वाले चिन्तक व्यक्ति को समाज के लिए न मानकर समाज को व्यक्ति के लिए मानते हैं । उनके अनुसार यह समाज का दायित्त्व है कि वह व्यक्ति के समुचित विकास हेतु उचित प्रबन्ध करें क्योंकि व्यक्ति के विकास से ही समाज की उन्नति सम्भव है । आज व्यक्ति की चेतना फ्रायड, एडलर एवं युंग के मनोविश्लेषण से प्रभावित होकर व्यक्तिवादी होती जा रही है । व्यक्ति के लिए शिक्षा, नौकरी, विवाह,

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ.- 58।

काम कुण्ठा, शहरी जीवन की विसंगतियाँ ग्राम्य जीवन की असुविधाएं व पिछड़ापन सभी को व्यक्तिगत नजरिये से परखना व्यक्ति का स्वभाव बनता जा रहा है परन्तु समाजवादी चिन्तन से प्रेरित रचनाकारों ने मनुष्य के इस दृष्टिकोण की आलोचना करके व्यक्ति की सामूहिक सोच पर बल दिया है। उनके अनुसार व्यक्ति का जीवन स्वयं के लिए ही नहीं होता, अकेले व्यक्ति अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता । संगठन एवं वर्ग में वर्गीय चेतना से ही व्यक्ति का विकास सम्भव है क्योंकि वर्गीय चेतना का अभाव वर्ग संघर्ष की दूरी को कायम रखता है और वर्ग-संघर्ष के अभाव में समानता पर आधारित व्यवस्था नहीं कायम हो सकती और इस व्यवस्था के अभाव में व्यक्ति अकेले ही इन संकटों से जूझता रहेगा।अत: इन रचनाकारों ने व्यक्ति का आकलन उसके व्यक्तित्व के सन्दर्भ में नहीं अपितु वर्गीय दृष्टिकोण से करते हैं तथा एक व्यक्ति की चिन्ता या सोच को महत्व न देकर पूरे मानव समाज की सामूहिकता में विश्वास रखते हैं ।

(द) मानववाद और भैरव जी का चिन्तन

भैरव प्रसाद के समस्त उपन्यास मानववादी चिन्तन से प्रेरित होकर धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ग हीन समाज की स्थापना में विश्वास रखते हैं जहाँ मानव का धर्म "मानव" मात्र हो । मानव की औकात उसकी जाति, धर्म या उसके वर्ग से नहीं बल्कि मानवता से हो । वह समाज जिसमें कुछ मनुष्य अपने को दूसरे मनुष्यों के हाथों में बेचकर रोग, भूख, बेकारी से संघर्ष करते हैं और उपरी तबका उन्हें उनकी बदहाली का कारण नियन्ता ईश्वर को बताता है, उन्हें संघर्षात्मक स्तर पर निष्क्रिय करने की चाल खेलता है, ऐसी व्यवस्था के कट्टर विरोधी हैं भैरव जी ।

"सती मैया का चौरा" में दो प्रगतिशील पात्र "मन्ने"और "मुन्नी" ऐसी व्यवस्था कायम करना चाहते हैं जहाँ व्यक्ति एक दूसरे की स्वतन्त्रता को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाए बगैर अपनी स्वतन्त्रता के सभी रूपों का भोक्ता बने । मनुष्य उम्र भर भोजन, वस्त्र, आवास जुटाने की योजना में ही न लगा रहे बल्कि इन आवश्यक सीमाओं से उबरकर मानवीय गरिमा का साक्षात्कार करता हुआ एक श्रेष्ठ संस्कृति का प्रकाश फैलाए।वह संस्कृति जो वर्गीय भेदों पर आधारित न होकर जन-जन के मंगल के गीत गाए । मन्ने इसी वर्गहीन समाज की स्थापना हेतु साम्प्रदायिक भावना वाले जुब्ली से झड़प करता है — "चुप रहिए । यहाँ कोई हाकिम-महकूम नहीं है यहाँ हर शख्स का बराबर हक है । जो भी हमारा हक छीनना चाहता है उससे लड़ना हमारा फर्ज है ।"[1]

"मन्ने" और "मुन्नी" धर्म से चालित जीवन के कुपरिणामों से पूरी तरह अवगत हैं । वे धार्मिक संकीर्णताओं के नतीजे की भयावहता के खिलाफ धर्म के प्रश्न को मिटाकर वर्ग चेतना के प्रश्न को अहम मानते हैं ताकि जनता अपनी स्वतन्त्रता, समानता की मूल लड़ाई से भटके बिना निर्विरोध चलती रहे । परन्तु गांव में हिन्दु और मुसलमान धर्म को झगड़े की जड़ बना लेते हैं । सती मैया के चबूतरे की रक्षार्थ हिन्दू जाति का जनसंघी नेता "कैलाश" राजनीति की आड़ में कोरे अपने क्षुद्र स्वार्थों को साधने में लगा है।"मन्ने" और "मुन्नी" की दूरदर्शिता तुरन्त उसकी कलुषित भावना को ताड़कर अपने उद्‌गार व्यक्त करती है — "सती मैया का चौरा ··· हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को भड़काया जाएगा ··· मुसलमानों के खिलाफ उन्हें भड़काया जाएगा ··· अपढ़, गँवार लोग भेड़ों की तरह भड़काने वालों के पीछे आँख मूँदकर चलेंगे ··· मजहब का मसला बड़ा नाजुक होता है ।"[2]

1· भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ·- 629.
2· वही, " पृ·- 290.

मन्ने और मुन्नी अन्ततः इस साम्प्रदायिक विद्वेष के खिलाफ जनता में सोयी हुई व बिपथगामी चेतना को सही रास्ते पर लाकर जन-जन के हितार्थ कार्य करते हैं।वे मानव-मानव की मुक्ति का दर्शन जनता में फूंकते हैं । धर्म, जाति, सम्प्रदाय के मसले पर विनम्रतापूर्वक गाँव वालों में सही दृष्टिकोण विकसित करते हैं तथा असामाजिक तत्त्वों का व्यक्तिगत कीमत पर डटकर मुकाबला करते हुए ग्राम्य जीवन में किए जा रहे संघर्षों से अपने समतायुक्त मानव को प्राथमिकता देने वाले मनुष्य की रोजी-रोटी, आवास की दिक्कतों को समेटने वाली व्यवस्था की स्थापना की सम्भावनाओं पर आल्हादित होते हुए कहता है —"अब तो वह जमाना आ रहा है, जब टूटे हुए इन्सानों की भी जिन्दगी संवरेगी । हमारा गाँव आँख खोल चुका है । स्कूल ··· पंचायत, कॉपरेटिव , फॉरम ··· ग्राम उद्योग ··· हर मंजिल पर जिन्दगी संवरती जाएगी ··· सरकार जो भी पंचायत को, गाँव को, फॉरम को, स्कूल को दे रही है उसे अफसरों और स्वार्थी लोगों और नेताओं के पंजो से छीनकर गाँव की भलाई और तरक्की के कामों में हम लोगों को लगाना है ।"[1]

वर्तमान व्यवस्था में जब व्यक्ति-व्यक्ति में भेद स्पष्ट नज़र आने लगा है । बुर्जुआ विचारक इस प्रत्यक्ष से पैदा हुए वर्ग संघर्ष को परिशमित करके अपनी यथास्थिति कायम रखना चाहते हैं जिनके लिए व्यक्तिगत हित सबसे बड़ा सत्य है, मानवहित, सामूहिक जीवन और सार्वभौम हित जहाँ उपहास का विषय है, विकृत मानसिकता की उपज है । मानववाद ऐसी खंडित और दोगली विचार-धारा पर प्रहार करते हुए पूँजीवाद जनित व्यक्ति-व्यक्ति के बीच बनाये गये इस स्तम्भ को ढ़ो देने में सक्षम है । "सती मैया का चौरा" के "मुन्नी" और "मन्ने" मजदूर को वस्तु का उत्पादनकर्ता ही नहीं अपितु स्वयं वस्तुरूप होने की इस पाखंडी व्यवस्था के उन्मूलन हेतु सजग है, मैदान में डटे हुए हैं इस सम्बन्ध

1· भैरव प्रसाद गुप्त - सती मैया का चौरा, पृ·-722.

में नक्ल किशोर का वक्तव्य दृष्टव्य है — "आज के मनुष्य के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या अपने अस्तित्व के अर्थ पाने की है उसकी परम्परागत मान्यताएं टूट चुकी हैं । दिव्य शक्ति और धर्म के आश्रय से वह वंचित है। ऐसी अवस्था में वह एक ऐसे दर्शन को पाने की चेष्टा में है जो उसे विश्वास दे । मानववाद उसे जीवन का ध्येय देता है ।"[1]

(ग) "आग और आँसू" उपन्यास में सांस्कृतिक चेतना एवं मानववाद

(अ) संस्कृति का वर्गीय स्वरूप

वर्गीय समाज में संस्कृति का स्वरूप भी वर्गीय होता है उच्च वर्ग की संस्कृति की अपनी विशिष्टता है और निम्न तबके की तो अपनी क्या संस्कृति हो सकती है ? निम्न वर्ग तो उच्च वर्ग की संस्कृति को श्रेष्ठता को बनाये रखने या उसमें विकास करने वाला एक संवाहक, संचालक मात्र होता है। "आग और आँसू" में छोटे सरकार के स्टेशन से घर के लिए आगमन में स्वागत हेतु अगुवाई के लिए तमाम औपचारिक प्रदर्शन के निमित्त के लिए सामन्त अपने अधिकारों के बल पर एक ही पल में कितनी ही संख्या में बेगारों की एक पंक्ति खड़ी कर देते हैं । खेतों की बुवाई-कटाई में जुते किसान अपना मेहनताना छोड़कर सामन्त की चाकरी बजाने को मजबूर कर दिए जाते हैं। छोटे सरकार के स्वागत हेतु बेगारों द्वारा पूरे गाँव में सफाई की जाती है । फाटक केलों, अशोक के पत्तों और झंडियों से सजाया जाता है। इतना ही नहीं छोटे सरकार के आने के समय से तीन-चार घंटे पूर्व ही बेगारों को दौड़ाना आरम्भ कर दिया जाता है कि देखें सरकार आ रहे हैं या नहीं — "पाँच-पाँच, दस-दस मिनट पर आदमी दौड़ाए जा रहे हैं । जाओ, देखो क्या बात है ? ... मोटर अभी तक क्यों

---

1. नक्ल किशोर - मानववाद और साहित्य, पृ.- 21.

नहीं आई ? ... अंग्रेजी बाजे वाले बजाते-बजाते थक गए ।"[1] इन बेगारों के श्रम पर अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता दिखलाने वाले ये सामन्त तथा व्यवस्था द्वारा खरीदे गये कुछ अधिकारी (कलेक्टर, दारोगा एवं डिप्टी अफसर) नाच-गान का आनन्द लेते हुए सुरा और सुन्दरी में इतने डूबे हैं कि इन्हें अपनी संस्कृति की आन्तरिक कलुषता और भ्यावहता नजर ही नहीं आती — "यह शेर और लाड्ली । जैसे हसीन साकी और छलकता हुआ मीना । सब जी रहे थे और झूम रहे थे । वाह । वाह । ... लाड्ली ने शेर दोहराया । डिप्टी को जैसे हर बार उसमें कोई नयी चीज मिलती । वह बार-बार कह रहा था एक बार और, एक बार और ।"[2]

सामन्ती परजीवी संस्कृति का एक और घिनौना उदाहरण हाथियों के प्रति मोह में स्पष्ट है। कार्तिक के महीने बड़े सामन्त अपना पुराना हाथी विक्रय करने एवं नया क्रय करने हेतु सोनपुर के मेले में जाते हैं। तमाम तामझाम व बेगारों के साथ मेले की सैर की जाती है। हाथी की सजावट दुल्हिन की भाँति करने में नौकर अपना जी जान लगाए दे रहे हैं। एक तरफ बेगारों के भोजन का भी प्रबन्ध नहीं होता दूसरी तरफ सामन्त अपनी कृत्रिमता के नशे में आकण्ठ डूबे अपने ही राग-रंग में मस्त दीन-दुनिया को विस्मृत किये अपनी संस्कृति की चकाचौंध में मस्त हैं तो आभिजात्य परिवार में ब्याही जाने वाली दुल्हिन की भाँति हाथी की सजावट कर रहे अल्लम-बल्लम को अपने शरीर की भी सुध नहीं है तो दूसरी तरफ बेचे जाने वाले हाथी के खाने पीने का विशेष प्रबन्ध किया जाता है। एक तरफ मनुष्य जठराग्नि से पीड़ित सूखी रोटी के लिए तरसता है तो सामन्ती घरानों में हाथी को गहने तक पहनाए जाते हैं — "हफ्तों पहले हाथी को झाँवे से रगड़-रगड़ कर साफ किया जाता,

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ.- 226.
2. वही, " पृ.-

खूब खिलाया-पिलाया जाता, फिर श्रृंगार किया जाता । पाँवों में मोटी-मोटी चाँदी की पायलें, गले में मोटी तिलड़ी ··· दोनों पुट्ठों पर बड़े-बड़े चाँद ··· हौदे पर पक्के काम की छतरी और राजसी पोशाक में बड़े सरकार हौदे पर । जब बड़े सरकार प्रयाण करते, तो लोग खड़े-2 तमाशा देखते ।"[1]

एक तरफ यह नाच-गान, प्रदर्शन व पाखंड की संस्कृति है तो दूसरी तरफ शोषित वर्ग की संस्कृति अपनी सूखी रोटी के इर्द-गिर्द चक्कर काटती है। उनकी संस्कृति की सीमाओं में अपने बच्चों को दो-चार जमात पढ़ाना भी आभिजात्यता है, साफ वस्त्र जहाँ कल्पना है, भरपेट रोटी जहाँ स्वप्न है, यही उनकी संस्कृति है। उनकी सोच की सीमाएं यदि रोटी-पानी और आवास तक ही ठहर जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । परन्तु भैरव जी संस्कृति के इस वर्गीय चित्रण के साथ ही साथ इस विकराल उच्च संस्कृति की घिनौनी छवि दिखाकर वर्ग चेतना द्वारा इसके मरणासन्न स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। परजीवी संस्कृति की उधार ली हुई साँसें अधिक समय तक जीवित रह पाएगी, पर्याप्त संदेह की गुंजाईश है ।

(ब) "आग और आँसू" में मानववादी चिन्तन

मानववाद के अनुसार जहाँ धर्म, जाति एवं सम्प्रदाय से बढ़कर है तो मनुष्य स्वयं । मानव जीवन का प्रथम और अन्तिम सत्य है मनुष्य की अपनी पहचान कराने वाले तत्त्व धर्म, जाति, सम्प्रदाय न होकर उसकी स्वतन्त्र जीने की कामना व दूसरों को स्वतन्त्रता का हक देने की भावना में है। "आग और आँसू" जहाँ सामन्ती समाज में शोषण की विकराल तस्वीर हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है वहीं कुछ प्रगतिशील चरित्रों के माध्यम से

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ॰- 157.

मानववादी चिन्तन को भी स्पष्ट करता है । महायुद्ध के दौरान अंग्रेजी सरकार भारतीय नौजवानों को सैनिक बनाने हेतु दमन से काम लेती है। जमींदारों को प्रलोभन देकर किसानों को भूमि से बेदखल करने का समझौता करवाकर भूमिहीनों को भुखमरी के शिकार होने हेतु छोड़ दिया जाता है ताकि वे फौज में भर्ती हो जाएं । नौजवानों को जबरदस्ती सैनिक बनाने हेतु पकड़-पकड़ कर ट्रक में भर दिया जाता है । इस घटना में "महँगू" के लड़के को भी इस साजिश का शिकार बनना पड़ता है । महँगू" दु:ख से फूट-फूट कर रोता है तब रमेसर उसे समझाते हुए अपनी मानववादी भावना को स्पष्ट करता हुआ कहता है — हम सबकी जिनगी मरन एक है काका । तुम नाहक ई बात खियाल में न लाओ कि तुम अकेले हो । हम सब तुम्हारे दु:ख में शामिल हैं ।"[1]

सामन्ती शोषण के शिकंजे में फंसा हुआ साधारण आदमी जहाँ भुखमरी का शिकार हुआ वहीं सामन्त अपनी संस्कृति के श्रेष्ठता के दम्भ के आलम में चूर, सुरा, सुन्दरी के भोग में लिप्त हैं। जबकि रमेसर, चतुरी इत्यादि पात्रों में वर्गीय चेतना का बोध जगाकर अपनी कब्र खुद ही खोद लेते हैं अपने ही हाथों अपने स्वस्थ के ह्रास को आमन्त्रित कर लेते हैं । सामन्ती लूट की भयावहता ने आम आदमी को किस तरह भूखों मरने पर विवश किया है इसका उदाहरण कंगलों को दिये गये भोज से स्पष्ट होता है — "पूरे सहन में पचासों पातें लगी हैं सब खा रहे हैं । एक-एक मिनट में पत्तल साफ । ··· और लाओ । इधर लाओ । शोर उठ रहा है जैसे लूट मची है, जितना लूट सको । ··· पत्तल में जो भी आ पड़ता है, वही साफ । यह चिन्ता नहीं कि भात के साथ दाल होनी चाहिए, और दाल-भात के साथ तरकारी । जो आता है तुरन्त पेट में पहुँचा दिया जाता है ।"[2]

1· भैरव प्रसाद गुप्त - आग और आँसू, पृ·- 185.
2· वही, " पृ·- 338.

भूखों की बदहवासी को देखकर सामंत अपनी उच्चता और सम्पन्नता पर गर्व से फूले नहीं समाते । "दान करने" का नैतिक और आत्मिक दम्भ मिश्रित सुख भोगते हैं । जनता से लूटा हुआ धन जनता में बाँटने की गलतफहमी सुख की अनन्त लहरों में तरंगित करती हुई सुख के महासागर में विलीन कर देती है परन्तु इनकी दम्भी नैतिक शक्ति को चकनाचूर करने हेतु एक वर्ग उठ खड़ा हुआ है । यह वर्ग मानवतावादी भावनाओं से आप्लावित होता हुआ एक व्यक्ति या एक संस्था को छद्म सत्य मानता हुआ समग्र मानवता के प्रश्न देता है। इस वर्ग द्वारा छेड़ी गयी लड़ाई शोषक वर्ग के लिए निश्चित ही एक दिन मँहगी साबित होगी ।

****

उपसंहार

प्रेमचन्द से पूर्व रचित उपन्यासों के स्वर आदर्शोन्मुखी हैं तो प्रेमचन्द युग तक सुधारवादी आन्दोलनों के कथा कलेवर में व्यापकता आने लगी । धीरे-धीरे फ्रायड एवं मार्क्स के विचारों का रचनाकारों की चेतना पर गहरा असर हुआ । जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ "अश्क" इत्यादि रचनाकारों ने फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों को अपने पात्रों की मानसिक यंत्रणाओं की गुत्थियों को स्पष्ट करने में प्रयुक्त किया । इधर यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, अमृतलाल नागर, फणीश्वर नाथ "रेणु" अमृतराय, रांगेय राघव, नागार्जुन एवं भैरव प्रसाद गुप्त समाजवादी चिन्तन से प्रेरित हो अपनी कृतियों में समाज की विविध समस्याओं का उद्‌घाटन करते हैं ।

उपन्यास का स्वरूप भले ही ऐतिहासिक हो या राजनैतिक हो अथवा मनोवैज्ञानिक हो - समाज उसकी धुरी होता है । प्रत्येक समस्या का अंकन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है । प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध में "गंगा मैया," "सती मैया का चौरा" तथा "आग और आँसू" उपन्यासों को विवेचन का विषय बनाया गया है । "गंगा मैया" उपन्यास मूलत: भारतीय ग्राम्य समाज में विधवा, पुनर्विवाह जैसी सामाजिक समस्या को लेकर लिखा गया है तो "आग और आँसू" सामन्ती जीवन में नारी

शोषण के विविध सन्दर्भों को उद्घाटित करता है । वहीं "सती मैया का चौरा" उपन्यास मूलत: राजनैतिक चेतना सम्पन्न होते हुए भी सामाजिक चेतना से ओतप्रोत है ।

शोध प्रबन्ध को मैंने आठ अध्यायों में विभाजित किया है । प्रथम अध्याय में चेतना एवं सामाजिक चेतना का भावार्थ स्पष्ट करते हुए रचनाकार की सामाजिक चेतना के विविध आयामों जैसे नारी जीवन का वर्गीय मूल्यांकन, स्वतन्त्रता के पश्चात बदलते हुए नैतिक एवं सामाजिक मानदण्ड तथा ग्रामीण और कस्बाई जीवन मूल्यों की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए रचनाकार की मानसिकता को प्रभावित करने वाली तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का जिक्र करते हुए सामाजिक चेतना को उसकी समग्रता में विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है ।

द्वितीय अध्याय में साहित्य और चेतना का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हुए पूर्व प्रेमचन्द, प्रेमचन्द एवं प्रेमचन्दोत्तर युग में सामाजिक राजनैतिक एवं आर्थिक चेतना की पृष्ठभूमि को छूते हुए अभी तक के साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक चेतना के मंतव्य को स्पष्ट किया है ।

अध्याय तीन में भैरवप्रसाद गुप्त के तीन प्रतिनिधि उपन्यास क्रमश: "गंगा मैया", "सती मैया का चौरा" व "आग और आँसू" जो उनके लगभग सभी उपन्यासों के कथ्य को स्पष्ट करने में सक्षम हैं, इनका आलोचनात्मक परिचय है ।

अध्याय चार में प्रेमचन्द के पश्चात लिखे गये विभिन्न विचार-धारात्मक उपन्यासों में जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी व अज्ञेय के कथ्य से भैरव जी के कथ्य को अलगाते हुए यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, अमृतराय एवं नागार्जुन से साम्य-वैषम्य स्पष्ट करते हुए भैरव जी की

रचनात्मक नवीनता एवं विशिष्टता का मूल्यांकन करते हुए उनकी सीमाओं का भी स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की गयी है ।

अध्याय पाँच जो "भैरव प्रसाद गुप्त के प्रतिनिधि उपन्यासों में सामाजिक चेतना" नामक शीर्षक से है, तमाम सामाजिक सरोकारों जैसे जाति, बिरादरीवाद, नारी की स्थिति, ग्राम्य जीवन में परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों आदि मुद्दों पर रचनाकार ने अपने प्रगतिशील विचार व्यक्त किये हैं ।

अध्याय छः में विवेच्य उपन्यासों में "आर्थिक चेतना" के सन्दर्भ से स्वतन्त्रतापूर्व भारत में किसान- जमींदार सम्बन्ध एवं स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बढ़ते हुए पूँजीवाद जनित मालिक-मजदूर सम्बन्धों के जरिये वर्ग संघर्ष को स्पष्ट करते हुए सर्वहारा में उदित हो रही वर्गीय चेतना का मूल्यांकन करते हुए "आर्थिक चेतना" को विश्लेषित करने का प्रयास किया है ।

अध्याय सात में "भैरव प्रसाद के प्रतिनिधि उपन्यासों में राजनैतिक चेतना" के माध्यम से राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के प्रति भैरव जी का दृष्टिकोण एवं विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रति उनकी विचारधारा को मूल्यांकित करने की चेष्टा की है ।

लघु शोध प्रबन्ध में आठवाँ अध्याय जो शोध प्रबन्ध का अन्तिम अध्याय है, में विवेच्य उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना एवं मानववाद को अभिव्यक्ति करते हुए संस्कृति के बाह्य स्वरूप (खान-पान, रहन-सहन, आचार-व्यवहार) को स्पष्ट करते हुए, संस्कृति का भीतरी रूप जैसे कट्टर आध्यात्मिक मान्यताओं एवं धार्मिक अन्ध रूढ़ियों पर प्रहार करते हुए, मानववादी चिन्तन के सन्दर्भ में पारलौकिक जीवन के बजाय मनुष्य के

इहलौकिक जीवन को जीने एवं सुन्दर बनाने की आस्था को स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

इस प्रकार आठों अध्यायों के माध्यम से भैरव जी के तीन प्रतिनिधि उपन्यासों का समग्र मूल्यांकन करने की मेरी चेष्टा रही है । यह प्रयास कितना सार्थक है, और कितना निरर्थक ? इसका निर्णय सुधिजन पाठकों पर ही रहेगा ।

****

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रन्थों की सूची

1. भैरव प्रसाद गुप्त — गंगा मैया
धारा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1953

2. भैरव प्रसाद गुप्त — सती मैया का चौरा
नीलाम प्रकाशन, इलाहाबाद, 1959.

3. भैरव प्रसाद गुप्त — आग और आँसू
धारा प्रकाशन
1 एफ/1, बेनीगंज, इलाहाबाद, 1982.

सहायक ग्रन्थों की सूची

1. अमृतराय — नई समीक्षा
हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस,
बनारस, 1950.

2. अयोध्या सिंह — भारत का मुक्ति संग्राम,
मैकमिलन इंडिया लिमिटेड
नई दिल्ली - 110028, 1977.

3. अमृतराय — बीज
सर्जना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967.

4.	(डॉ0) इन्द्रनाथ मदान	आज का हिन्दी उपन्यास राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1976.
5.	एमिन वर्न्स	मार्क्सवाद क्या है
6.	सं. कुंवरपाल और सव्यसाँची	प्रेमचन्द और जनवादी साहित्य की परम्परा, भाषा प्रकाशन, नई दिल्ली-63, 1980.
7.	(डॉ0) कमला गुप्ता	हिन्दी उपन्यासों में सामन्तवाद का चित्रण ।
8.	कान्तिवर्मा	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, रामचन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली-6, 1966.
9.	चण्डी प्रसाद जोशी	हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर
10.	(डॉ.) ज्ञानचन्द्र गुप्त	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना.
11.	नन्द दुलारे वाजपेयी	नए साहित्य नये प्रश्न बनारस विद्या मन्दिर, 1955.
12.	(डॉ.) एन. रवीन्द्रनाथ	मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली-7, 1979.
13.	(डॉ.) निर्मल कुमारी वार्ष्णेय	प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में प्रगतिशीलता संजय बुक सेन्टर, वाराणसी-221001.
14.	नवल किशोर	मानववाद और साहित्य राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-6, 1972.
15.	प्रेमचन्द	मंगलसूत्र प्रथम संस्करण, हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, बनारस

16. प्रेमचन्द — प्रेमाश्रम
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

17. (डॉ.) पुरूषोत्तम दुबे — व्यक्ति चेतना और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास,
अनुपमा प्रकाशन, 7/8 बोरावाला
बम्बई -1, 1973.

18. (डॉ.) पी.के. पद्मजा — हिन्दी उपन्यास साहित्य पर वैचारिक आन्दोलनों का प्रभाव,
पंकज पब्लिकेशन, गाजियाबाद.

19. (डॉ.) प्रभास चन्द्र शर्मा — प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास,
साहित्य सदन, देहरादून, 1967.

20. फ्रेडरिक एंगेल्स — समाजवाद वैज्ञानिक और काल्पनिक,
जन प्रकाशन गृह, बम्बई, 1945.

21. बटरोही — कहानी : रचना प्रक्रिया और स्वरूप
अक्षर प्रकाशन, 2/36 अंसारी रोड
दरियागंज, दिल्ली.

22. (डॉ.) महावीरसरन लोढ़ा — हिन्दी उपन्यासों का शास्त्रीय विवेचन,
रोशनलाल जैन एण्ड संस, जयपुर, 1972.

23. मार्क्स एंगेल्स — साहित्य और कला
प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981.

24. यशपाल — झूठा सच
विप्लव कार्यालय, 21 शिवाजी मार्ग,
लखनऊ, तीसरा संस्करण, 1967.

25. यशपाल — मनुष्य के रूप
विप्लव प्रकाशन, लखनऊ, 1964.

26. यशपाल — दादा कामरेड
विप्लव प्रकाशन, लखनऊ.

27.	रामधारीसिंह "दिनकर"	संस्कृति के चार अध्याय उदयांचल, पटना - 4.
28.	(डॉ.) रत्नाकर पांडेय	हिन्दी साहित्य : सामाजिक चेतना पांडुलिपि प्रकाशन, ई 11/5, कृष्ण नगर दिल्ली - 110051, 1976.
29.	(डॉ.) रमेश तिवारी	हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद-1, 1972.
30.	राँगेय राघव	सोधा सादा रास्ता
31.	(डॉ.) रामदरश मिश्र	हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-6, 1968.
32.	रेखा अवस्थी	प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य मैकमिलन कम्पनी, दिल्ली-32, 1978.
33.	(डॉ.) रामनारायण शुक्ल	जनवादी साहित्य और समझ - विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी, 1985.
34.	(डॉ.) विजयेन्द्र स्नातक	यशपाल का यथार्थवादी दृष्टिकोण
35.	(सं.) विद्याधर शुक्ल	भैरव प्रसाद गुप्त : व्यक्ति और रचनाकार, प्रभा प्रकाशन, इलाहाबाद-211003.
36.	विजयेन्द्र स्नातक	विचार के क्षण
37.	(डॉ.) विजय कुलश्रेष्ठ	जैनेन्द्र उपन्यास और कला, पंचशील प्रकाशन, जयपुर-03, 1978.
38.	शिव कुमार मिश्र	प्रेमचन्द विरासत का सवाल पोपुलर लिटरेसी, दिल्ली-06, 1981.

39. डॉ. सुरेश सिन्हा — हिन्दी उपन्यास - 1972.

40. स्तालिन — लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त
जन प्रकाशन गृह, बम्बई, 1944.

41. (डॉ.) सुषमा ध्रुवन — हिन्दी उपन्यास, 1961.
प्र.सं.-1961, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

42. (डॉ.) सम्पूर्णानन्द — समाजवाद.

43. (डॉ.) सुभद्रा — हिन्दी उपन्यास और परम्परा
अलंकार प्रकाशन, दिल्ली - 110051.

44. हजारी प्रसाद द्विवेदी — विचार और वितर्क
साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1969.

45. हैवर्ड फास्ट — लिटरेचर एण्ड रियलिटी
पी.पी.एच., बम्बई - 1952.

पत्र-पत्रिकाओं की सूची

1. हंस — फरवरी-मार्च, 1943.
2. नया पथ — जनवरी-मार्च, 1987.
3. आज (साहित्य विशेषांक) — 1960.

शब्द कोश

1. द ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी, वॉल्यूम-2.
2. हिन्दी साहित्य कोश.
3. द डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी - डी.डी. रयुन्स
4. सं.- डॉ. नगेन्द्र - मानविकी पारिभाषिक कोश (दर्शन खंड)

******